अध्याय चौथा

" कुरुक्षेत्र के भीष्म "

साहित्य युगसापेक्ष होता है। समाज की परिस्थिति से प्रेरित होकर सर्जनात्मक साहित्य का निर्माण करना साहित्यकार की प्रतिभा का द्योतक है। युग और युग परिस्थिति से ऊपर उठकर भविष्य के लिए संदेश देना साहित्यकार का दायित्व है। यह दायित्व उसके व्यक्तित्व पर निर्भर रहता है। उसका यह व्यक्तित्व संवेदनशील आत्माको पहचानने का परिचय देता है। अपनी प्रतिभा, प्रयत्न और व्यक्तित्व के बल पर शाश्वत एवं सर्जनात्मक साहित्य निर्माण करना तथा उसमें संपूर्ण युग को प्रभावित करना एक सफल साहित्य का उद्देश्य हो सकता है। इसलिए साहित्यकार को युग की धडकन बनना आवश्यक है। हमारे पौराणिक धार्मिक ग्रंथ रामायण-महाभारत आज भी गले का हार बन चुके हैं। उसकी उपयोगिता, सार्थकता आज भी उतनी ही महान है जितनी कि तत्कालीन समाजमें थी। सहस्त्रों वर्षोंपूर्व लिखे ये महान ग्रंथ आज भी युग को प्रभावित करनेमें सक्षम कहे जा सकते हैं।

आधुनिक युगमें ये परंपरा चली आ रही है कि पुराने कथानकों को आधुनिकता का जामा पहनाकर अपना काव्यप्रयोजन सफल करे। राम, कृष्ण, कर्ण, सीता, द्रौपदी, कुंती, गांधारी, उर्मिला ये पात्र पुराने होने पर भी बदलते परिप्रेक्ष्यमें औचित्य स्थापित करते हैं। शायद इसी वजहसे होगा कि हमारे साहित्यकारों ने पुराने ढाँचेमें नयी खुराक डालने की सफल चेष्टाएँ की। इस कथन को निम्नलिखित उध्दरण पुष्टि देता है -

" किसी भी साहित्य के लिए यह अनिवार्य आवश्यकता होती

है कि वह अतीत से संजीवनशक्ति ग्रहण करते हुए भी भविष्यजीवी हो ------ युग की पुकार के अनुसार एक ही पात्र को अलग अलग रूपमें प्रस्तुत करती है, जैसे कि प्रियप्रवास [हरिऔध] की राधा वही नहीं है, जो सूर की या नंददास की थी, या वाल्मिकि [रामायण] के राम वही है जो तुलसी [रामचरितमानस] के हैं। इसी प्रकार "महाभारत" के "कर्ण" से अलग व्यक्तित्व रश्मिरथी [दिनकर] के कर्ण का है।"[१]

रामधारीसिंह दिनकर लिखित कुरुक्षेत्र का "भीष्म", महाभारत के "भीष्म" से अलग अस्तित्व रखता है। हिंसा, शांति, समता, युध्द के बारेमें नयी व्याख्याएँ प्रस्तुत करता है। युधिष्ठिर की क्षमा तप त्याग से दुर्योधन की कुटिलता बढती चली गई, उसी प्रकार गांधीजी की अहिंसा नीति ने अंग्रेज शासकों की क्रूरता पनपने की बात भी करता है। आदि महाभारत से साम्य रखनेवाली प्रवृत्तियाँ तथा असमानता रखनेवाली - दोनों प्रवृत्तियों को बताते हुए उनमें समन्वय स्थापित करता है, यह कवि की मौलिकता है, अलग वैशिष्टय है।

दिनकर का "कुरुक्षेत्र" हिंदी साहित्य की आधुनिक काल की चतुर्थ उत्थानकाल के बाद की रचना मानी जाती है। यह काल राजनीतिक दृष्टि से उथल-पुथल का काल था। द्वितीय महायुध्द समाप्त हो चुका था। जीवन के सभी क्षेत्रोंमें अशांति, अस्थिरता और घोर निराशा के बादल छाये थे। देशकी सामाजिक आर्थिक परिस्थिति संकटग्रस्त थी। अंग्रेजी शासकों का प्रधान लक्ष्य भारतीय जनता का शोषण रहा। सामाजिक क्षेत्रमें अछूतोध्दार, हिंदु - मुस्लिम ऐक्य, वर्गसंघर्ष बेकारी की समस्या आदि गहन समस्याओं से जनता त्रस्त थी।

---

१. डॉ. पुष्पा ठक्कर : दिनकर काव्यमें युगचेतना, अरविंद प्रकाशन, प्रथम संस्करण पृ. १.

इन गहन समस्याओं को देखते हुए कवि मन कैसे असंपृक्त रहता है ? भाग्य पर रोनेवाले शोषितों के मनमें नवजागृति निर्माण करने का श्रेय दिनकर को देना चाहिए। यह युग धर्म की सापेक्षता है। इसे निभाने के लिए उन्होंने अतीत का सहारा लिया। और ऐसे एक चरित्र का निर्माण किया - जो इन सभी निराशाजनक प्रवृत्तियों पर विजय दिखा सके, जो साहस, निष्ठा के साथ आदर्श जीवन जी सके। इन प्रवृत्तिमूलक बातों का प्रतिनिधित्व करता है, " महाभारत का भीष्म " - जो कुरुक्षेत्र में आकर अपना अलग अस्तित्व रखता है। स्वयं दिनकर भी कुरुक्षेत्र की भूमिकामें लिखते हैं -

" कुरुक्षेत्र की रचना व्यास के अनुकरण नहीं हुई है। न महाभारत को दुहराना मेरा उद्देश्य था। मुझे जो कुछ कहना था, वह युधिष्ठिर और भीष्म का प्रसंग उठाए बिना भी कहा जा सकता था।"[१]

दिनकर का भीष्म युध्द, शांति, युध्द के मूलभूत कारण, शोषक-शोषित, अधिकार-स्वत्व की रक्षा, पाप-पुण्य, धर्म अधर्म, राष्ट्रीयताआदि को युगधर्म के अनुसार वाणी देता है।

यह आधुनिक भीष्म प्रेम, दया, तप, सहानुभूति अहिंसा, करुणा इनकी उपयोगिता कहाँ है और कहाँ नहीं है, ये बताता है। अत्याचार, अन्याय, दबाव, हिंस्र पशुओं का राज्य है वहाँ इन मनोबलों की उपयोगिता काम नहीं आती। वहाँ खड्ग मात्र सहारा बन जाता है। इसीलिए अन्याय के प्रति विरोध, आर्थिक विषमता के प्रति प्रतिक्रिया, पूंजीवादी व्यवस्थाके विरुध्द आक्रोश, आदि सामाजिक असंतोष को

---

१. रामधारीसिंह दिनकर - कुरुक्षेत्र, २३ वा संस्करण १९७४, पृ. ३ [निवेदन]

निर्माण करनेवाले प्रवृत्तियों के विरुद्ध क्रांति - सशक्त क्रांति - रक्त रंजित क्रांति का आव्हान करता है - भीष्म। समाज की इन विध्वंसक वृत्तियों का नाश करके एक नवीन मानवतावादी समाज निर्माण करने की कामना करता है - भीष्म।

इस दृष्टि से दिनकर के भीष्म ठीक ठीक महाभारत के भीष्म नहीं हो सकते। उसका नवीन संस्कारित, संवर्धित - आधुनिक रूप प्रस्तुत किया है, यह उनकी मौलिक उद्भावना है। जो युध्द को सारी समस्याओं की जड मानता है।

असंख्य नर संहार और युध्द के पश्चात की भीषण परिस्थिति को देखकर युधिष्ठिर का मन आत्मग्लानि एवं पश्चाताप से दग्ध है। वह विजय को हार मान रहा है। जीवन से पलायन कर संन्यास लेने की या वनमें भाग जाने की या भिक्षा माँग कर निर्वाह करने की बात पितामह भीष्म के पास करता है। समस्त विनाश का उत्तरदायी अपने को समझ कर, "हाय! पितामह मैंने ये क्या किया, महाभारत वृथा निष्फल हुआ, यदि यह परिणाम पहले जानता तो तनोबल छोड कर मनोबल से लडने की बात करता।" ऐसी अनेक निवृत्तिमूलक भावनाओं का शंकाकुल हृदय लेकर वह पितामह भीष्म के पास आता है।

दिनकर का भीष्म हार माननेवाले युधिष्ठिर को कर्मण्यता की, क्षात्रधर्म की, प्रवृत्ति की, पुरुषार्थ की संजीवनी देकर उसे मनुष्य के सच्चे धर्म की सार्थकता बताता है। भाग्यवाद का खंडन करके उद्यम, पुरुषार्थ, साहस का मार्ग बताता है। अंतमें "सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे संतु निरामया" की कामना करता है। यही भीष्म का जीवनदर्शन है।

"कुरुक्षेत्र" की कथा इस प्रकार प्रारंभ होती है -

"कुरुक्षेत्र" का युध्द समाप्त हो चुका है। युधिष्ठिर युध्दभूमि में पडी लाशों को देखकर पश्चाताप व्यक्त कर रहा है। वह दुःखी मनस्थितिमें है। कवि युध्द का कारण देकर कहते हैं -

" वह कौन रोता है, इतिहास के अध्याय पर,
जिसमें लिखा है नौजवानों का लहू का मोल है
प्रत्यय किसे बूढे कुटिल नीतिज्ञ व्यवहार का
जिस का हृदय उतना मलिन कि शीर्ष वल्क है।
जो आप तो लडता नहीं,
कटवा किशोरों को मगर
आश्वस्त होकर सोचता
शोणित बहा लेकिन, बच गई लाज सारे देश की "[१]

दुःख और पश्चाताप से दग्ध होकर युधिष्ठिर समझते हैं कि पाँच पांडवों के लिए, उनके स्वार्थ के लिए, द्रौपदी वस्त्रहरण के लिए यह भयानक युध्द हुआ, जिसमें असंख्य नरसंहार हुआ, इसका परिणाम जानता तो मैं युध्द नहीं करता। इन बातों का समाधान पाने के लिए वे पितामह को कहते हैं - अब मैं क्या करूं ? आत्महत्या करूँ या वनमें जाऊँ ? दूसरे सर्ग से लेकर सप्तम सर्ग तक युधिष्ठिर के शंकाकुल हृदय का समाधान करते पितामह अपना जीवन दर्शन व्यक्त करते हैं।

द्वितीय सर्ग के प्रारंभमें भीष्म युध्द के कारणों को निर्देशित करते हुए कहते हैं कि -

" हे युधिष्ठिर जैसे तुफान अनिवार्य है, वैसे ही युध्द अनिवार्य है। तुफान जैसे प्रलय का नाद करता हुआ काल के सदृश आता है।

---

१. रामधारीसिंह दिनकर : कुरुक्षेत्र, प्रथमसर्ग २३ वा संस्करण १९७४ पृ. ५

वन के कमजोर द्रुमों को तोडता, झकझोरता, उखाडता हुआ चला जाता है। घोसलें उजड जाते हैं। फूलों, फलों तथा पक्षियों से वन भर जाता है। पर जिस महीरुह की शिरायें अतलमें गडी हुई है, वह क्रूर झंझावात से भयभीत नहीं होतो। कुछ पत्तों और डालियों को तोडता हुआ शीघ्र पर तूफान चला जाता है। उसके महीरुह में, जो कुछ शेष रह जाता है, उसे शोक या निर्वेदसे अपने पत्तों को झुकाए हुए स्तब्ध - सा सोचता है - प्रकृति तुफान क्यों भेजती है ? पर उस जड वृक्ष को ज्ञात नहीं है कि प्रकृति भी विमर्श के अधीन है। यह प्रभजन उसका शास्त्र नहीं है। यह उसके प्राण का आवेग भय विस्फोट है, जो प्रचंड निनाद से जमा होता है और जिसका फूटना अनिवार्य है।"[1]

जिसप्रकार प्रकृतिमें होता है उसी प्रकार मानवी मनमें भी होता है -

" यों ही नरोंमें भी विकारों की शिखायें आगसी
एकसे मिल एक जलती है प्रचंडावेग से,
तप्त होता क्षुद्र अंतर्व्योम पहले व्यक्ति का
और तब उठता धधक समुदाय का आकाश भी
क्षोभ से दाहक घृणासे, गरल ईर्ष्या द्वेषसे "[2]

इस प्रकार युध्द के ज्वालामुखी की भट्टियाँ तैयार होती है, कभी राजनीतिक उलझनों से, तो कभी देशाप्रेम का सहारा लेकर। किंतु उन दोनों के मूलमें वही हलाहल है - जो घृणा और स्वार्थ के विद्वेष से फैलता है।

---

१. रामधारीसिंह दिनकर : कुरुक्षेत्र - २३ वा संस्करण १९७४ द्वितीय सर्ग पृ. १५, १६.
२. रामधारीसिंह दिनकर : कुरुक्षेत्र - २३ वा संस्करण १९७४ द्वितीय सर्ग पृ. १६.

प्रकृति अपनेमें संग्रहीत चिनगारियाँ तुफान के रूपमें जगाती है। इसे देखकर अरस्तू के विरेचन सिध्दांत की याद आती है। मानव के मनमें स्थित मनोविकार यदि अंदर ही अंदर दब जाए तो मानवी मन संतुलन खोकर विकृति पैदा होने की संभावना है। यह व्यक्ति का मानसशास्त्रीय दृष्टिकोण प्रकृति पर भी लागू होता है। व्यक्ति की भौतिक जिंदगी - रोज मरी जिंदगी, भूखे नंगे, मजदूरों के आक्रोश की जिंदगी की उसी तरह भडक उठती है, और एक दिन क्रांति का तीव्र रूप धारण कर लेती है। व्यक्ति मन का शोषण समष्टिमें आकर क्रांति का बिगुल बजाता है। और क्रांति की अंतिम सीढी - युध्द का रूप धारण कर लेता है। यह अनिवार्य है इस प्रकार युध्द की पृष्ठभूमि पहले से ही तैयार होती रहती है।

जब युधिष्ठिर युध्द का प्रधान कारण पाँच पांडव बताते हैं - तब पितामह भीष्म युध्द के प्रधान कारणों को स्पष्ट करते हुए कहते हैं -

" महाभारत नहीं था द्वंद्व केवल दो घरों का
अनल का पुंज था इसमें भरा था अगणित नरों का
न यह केवल कुरुवंश के संघर्ष का था
विकट विस्फोट यह संपूर्ण भारतवंश का था"[1]

और आगे कहते हैं - जैसे मही ने भी इसे सहा -

" युगों से विष वायु बहती आ रही थी,
धरित्री मौन हो दावाग्नि सहती आ रही थी,
परस्पर वैर शोधन के लिए तैयार थे सब

---

१. रामधारीसिंह दिनकर : कुरुक्षेत्र - तृतीय सर्ग २३ वा संस्करण, १९७४, पृ. ३८, ३९.

समर का खोजते कोई बड़ा आघात से अब "[1]

अतः भीष्म कहते हैं, युध्द का प्रधान कारण पाँच पांडव नहीं थे। सभी परस्पर वैर शोधन के लिए तैयार होकर समर का आधार खोज रहे थे। एक दूसरे के प्रति प्रतिशोध की ज्वाला शांत करने के लिए अवसर देख रहे थे। राधेय - अर्जुन का, द्रुपद - द्रोण का, शकुनि अपने पिता का ऋण चुकाने के लिए कुरुवंश का नाश चाहता था। परस्पर कलह और वैर से लोग दो दलोंमें विभाजित होकर युध्द के लिए सज्ज हो बैठे थे। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ ने बचे वैरशोधन का अधूरा काम पूरा किया।

पितामह युध्द के कारण बताते हुए आगे कहते हैं -

इन सभीमें स्वार्थ की चिनगारियाँ पहले से ही पनप रही थी, किसी दिन इनका भडकना अपरिहार्य था। इससे महर्षि व्यास परिचित थे। इस युध्द के पनपते बीजों को देखकर उन्होंने भविष्यवाणी की थी। उसकी याद पितामह भीष्म युधिष्ठिर को देते हैं -

" धर्मराज, है व्यास का
वह गंभीर वचन क्या ?
ऋषि का वह अज्ञात काल
विकट भविष्य कथन क्या"[1]

" जुटा जा रहा कुटिल ग्रहों का
दुष्ट योग अंबरमें,
त्यात, जगत पडनेवाला है

---

१. रामधारीसिंह दिनकर - कुरुक्षेत्र - तृतीय सर्ग २३ वा संस्करण, १९७४, पृ. ३८, ३९.
२. रामधारीसिंह दिनकर - कुरुक्षेत्र - चतुर्थ सर्ग २३ वा संस्करण, १९७४, पृ. ४३.

किसी महासंगर में "[१]

" होगा ध्वंस करांल, काल
विप्लव का खेल रचेगा,
प्रलय होगा धरणी पर,
हा - हा कार मचेगा "[२]

राजसूय यज्ञ के समय ही राजाओं के असंतोष देखकर भगवान व्यासने इस युध्द की भविष्यवाणी की थी। महाविनाश से बचने के लिए संयम का उपदेश दिया था। भीष्म आगे कहते हैं - जिस दिन द्रौपदी का वस्त्रहरण हुआ उसी दिन युध्द प्रारंभ हो जाना चाहिए था, किंतु पता नहीं उस दिन हम दोनों हार गए। मैंने जीवन में अन्याय नहीं सहा था पर पता नहीं उस दिन मैं कैसे चुप बैठा। बुध्दि हृदय पर हावी हो गई और इस बुध्दि ने अपना धर्म कौरवों को दिया और प्रेम पांडवों को दिया।

महाभारत के भीष्म द्रौपदी वस्त्रहरण के समय धर्माधर्म की सूक्ष्मता प्रस्तुत करके मौन हो जाते हैं। इस मौनता का कलंक कुरुक्षेत्र के भीष्म पश्चाताप व्यक्त करके धो डालते हैं। क्योंकि इसके अतिरिक्त उनके पास और कोई मार्ग नहीं था।

"किन्तु, न जानें, क्यों उस दिन
तुम हारे, मैं भी हारा,

---

१. रामधारीसिंह दिनकर : कुरुक्षेत्र : चतुर्थ सर्ग २३ वा संस्करण १९७४, पृ. ४३.

२. वही पृष्ठ " " "

जानें, क्यों फूटी न भुजा को
फोड़ रक्त की धारा।"[1]

महाभारत के भीष्म युध्द रोकने का काफी प्रयत्न करते हैं, परंतु उसमें वे सफल नहीं होते, लेकिन कुरुक्षेत्र के भीष्म कहते हैं –

" बढ़ता हुआ वैर भीषण
पाण्डव से दुर्योधन का
मुझमें बिंबित हुआ द्वंद्व
बनकर शरीर से मन का"[2]

इस प्रकार महाभारत के युध्द के प्रधान कारण पांडव ही न होकर स्वार्थ लोलुपता, प्रतिशोध की ज्वाला और राजनीतिक उलझने आदि सन्निहित होने की बात बताकर युध्द की अनिवार्यता पर अपने विचार प्रकट करते हैं। अत: जो अनिवार्य था, उसके कारण परितप्त होना, खिन्न होना व्यर्थ बताते हैं। और यह भी सूचित करते हैं यदि तुम इस युध्दमें नहीं लडते तो भी यह युध्द अक्षय होता। यह युध्दरूपि ज्वाला कोई न कोई बहाना लेकर फूटनेवाली ही थी और न पांडवों के भिक्षु होने से कभी ये विस्फोट रुक जाता। अत: न चाहते हुए भी युध्द अनिवार्य हो जाता है जैसे –

" रुग्ण होना चाहता कोई नहीं
रोग लेकिन आ गया पास हो

---

१. रामधारीसिंह दिनकर–कुरुक्षेत्र–२३वा संस्करण, १९७५, चतुर्थ सर्ग, पृ. ४६।

२. रामधारीसिंह दिनकर–कुरुक्षेत्र–२३ वा संस्करण, १९७४, चतुर्थ सर्ग, पृ. ५८।

तिक्त औषधि के सिवा उपचार क्या
शमित होगा नहीं वह मिष्ठान्न से"[1]

अत: युध्द एक अनिवार्य विकार है। उसका उपचार मिष्ठान्न से नहीं, जैसे रोग का उपाय कड़ुआ दवा है, उसी प्रकार युध्द की दवा तप, त्याग नहीं बल्कि युध्द ही है। जहाँ तप त्याग, सहिष्णु, नय संभव नहीं वहाँ युध्द की चुनौती स्वीकार करना अनिवार्य है, वहाँ किसी विकल्प के लिए स्थान नहीं। जो अहिंसा के पुजारी, शांतिदूत हैं, उन्हें भी युध्दमें कूदना पडता है।

महाभारत के भीष्म असाधु को साधु से क्रोध को शांति से, असत्य को सत्य से जीतने की बात करते हैं लेकिन कुरुक्षेत्र के भीष्म युध्द का उत्तर युध्द से ही देने की बात करते हैं। साधुता, शांति, सत्य के मिष्ठान्न से युध्दरूपी रोग का निवारण नहीं होता। अधर्मी कौरवों ने संधि के प्रस्ताव कृष्ण की शिष्टाई ठुकरा दी थी। भीष्म, द्रोणाचार्य, विदुर आदि ने दुर्योधन को पांडवों के साथ स्नेह बाँटने को कहा था। उनकी ये साधुता के प्रयत्न विफल रहे। लोभी, अहंकारी, दुष्ट साम्राज्यमें नीतिधर्मों के शुध्द स्वरूप की अपेक्षा करना, व्यर्थ है। यह दोष समाज का है, नीति का नहीं। सच्चे शासक वही है जो शुध्द नीति - नियमों से जुड़ते समाज को उन्नतावस्था की ओर लेनेमें प्रयत्नशील होते हैं।

गीता - गीतारहस्य का भी यही आदर्श है -

---

१. रामधारीसिंह दिनकर : कुरुक्षेत्र - द्वितीय सर्ग, २३ वा संस्करण, १९७४, पृ. १७, राजपाल एण्ड सन्स, कश्मिरी गेट, दिल्ली.

व्यष्टि धर्म-समष्टिधर्म की उपयोगिता, क्षात्रधर्म, प्रतिशोध की भावना आदि का प्रतिपादन दिनकर के भीष्म करते हैं।

तप, त्याग, अहिंसा, करुणा, सहानुभूति, प्रेम सहिष्णुता आदि व्यक्ति विकास के अंग हैं। ये व्यक्ति की शोभा को, आत्मिक बल को, मनोबल को बढाते हैं किंतु जब समुदाय का प्रश्न उठता है, इन्हें त्याग कर समष्टि धर्म को अपनाना पडता है। दिनकर के भीष्म इन्हीं बातों का प्रतिनिधित्व करते हुए युधिष्ठिर के तनोबल छोडकर मनोबल से लडने की बात का जवाब देते हैं -

" व्यक्ति का है धर्म, तप करुणा क्षमा
व्यक्ति की शोभा विनय भी, त्याग भी,
किंतु उठता प्रश्न जब समुदाय का,
भूलना पडता है हमें तप त्याग को"[1]

पांडवों को न्यायोचित अधिकार माँगने से न मिले। उनका स्वत्व छीना गया। उन्हें लाक्षागृहमें जलाने के प्रयत्न हुए। कपटद्यूत नीति अपनायी, जिसमें द्रौपदी के वस्त्रहरण जैसा गंभीर, समाज कलंकित बात हुई। कुरुक्षेत्र के भीष्म इसलिए आवेशमें आकर पूछते हैं -

"क्लीव-सभा देखा किया लज्जाहरण निजनारी का
[द्रौपदी के साथही लज्जा हरी जा रही थी]
उस बडे समुदाय की जो पांडवों के साथ था
और तूने कुछ नहीं उपचार था, उस दिन किया
सो बता क्या पुण्य था ? या पुण्यमय क्रोध था
जल उठा था आग सा जो लोचनोंमें भीम के"[2]

---

१. रामधारीसिंह दिनकर - कुरुक्षेत्र - द्वितीय सर्ग, २३ वा संस्करण, १९७४ पृ. १९.
२. रामधारीसिंह दिनकर - कुरुक्षेत्र - द्वितीय सर्ग २३ वा संस्करण, १९७४ पृ. २०.

द्रौपदी के वस्त्रहरण के समय तप, त्याग, आदि का महत्व हिंसक पशुओं द्वारा घिर जाने से क्या काम में आया ? क्या इन उपचारों का कोई महत्व वहाँ रहा ? क्या उस समय मनोबल काम आया ? तप, त्याग तो विरागी लोगों के धर्म है, क्षुद्राय के नहीं। जब समाज-कल्याण का प्रश्न उठता है, तब ये मनोबल की बातों का उपचार कहाँ तक हो सकता है ? इसलिए भीष्म इसका उत्तर देते हैं -

" छीनता हो स्वत्व कोई और तू
तप त्याग से काम ले पाप है
पुण्य है विच्छिन कर देना
उसे बढ रहा तेरी तरफ जो हाथ है"[१]

तब तनोबल छोडकर, धर्म अधर्म, पाप - पुण्य की चर्चा न करते अधर्म, अन्याय, शोषण के विरुद्ध संग्राम शास्त्रसे ही किया जा सकता है। भीष्म युधिष्ठिर को प्रश्न पूछते हैं -

" कौन केवल आत्मबल से जूझकर
जीत सकता देह का संग्राम है ?
पाशविकता खड्ग जब उठा लेती है
आत्मबल का वश चलता नहीं।"[२]

अन्याय का प्रतिकार करने के लिए अंगार जैसी वीरता होनी चाहिए। इसलिए शूरधर्म का विवेचन पितामह भीष्म इन शब्दोंमें करते हैं -

---

१. रामधारीसिंह दिनकर-कुरुक्षेत्र - द्वितीय सर्ग, २३ वा संस्करण १९७४, पृ. १८.
२. रामधारीसिंह दिनकर-कुरुक्षेत्र - द्वितीय सर्ग, २३ वा संस्करण १९७४, पृ. २१.

" शूरधर्म है अभय दहकते अंगारोंपर चलना
शूरधर्म है शोणित असिपर
धरकर चरण मचलना
शूरधर्म कहते है छाती तान
तीर खाने को,
शूरधर्म कहते हँस कर
हलाहल पी जाने को"[1]

महाभारत के भीष्म भी यही कहते हैं। क्षात्रधर्म का मूल है - शौर्य साहस और पौरुष। कुरुक्षेत्र के भीष्म युधिष्ठिर के पौरुष को आव्हान देकर प्रश्न पूछते हैं -

" उसने ही दी सुधा तुम्हारे
पौरुष की चिनगारी
जली न आँख देखकर खिंचती
द्रुपद सुता की साडी "[2]

द्रौपदी पर होता अत्याचार देखकर तुम्हारा पौरुष क्यों नहीं ललकारा ? दुर्योधन के अत्याचार को तुम्हारी वीरता ने कैसे अपमान सहा ? कुरुक्षेत्र के भीष्म यहाँ हृदय पर बुध्दि हावी होने की बात करते हैं। मैंने भी धर्म का विजय करते स्नेह को हराया। धर्म कौरवों को दिया, और पांडवों के पक्षमें प्रेम।

द्वितीय सर्गमें पितामह भीष्म ने युध्द की पृष्ठभूमि कैसे तैयार होती है - स्वार्थ, राजनीतिक प्रवंचना और प्रतिशोध आदि का विवेचन किया

---

१. रामधारीसिंह दिनकर - कुरुक्षेत्र - २३ वा संस्करण, १९५४, पृ. ४८. चतुर्थ सर्ग.

२. रामधारीसिंह दिनकर - कुरुक्षेत्र - २३ वा संस्करण, १९७४, पृ. ५० चतुर्थ सर्ग.

है। युध्द पाप है या पुण्य इस बात को युधिष्ठिर के सामने स्पष्ट कर दी। पाप और पुण्य के बीच कोई सीमारेखा खींची नहीं जाती।

तप, त्याग, अहिंसा आदि ये महान भाव होते हुए भी उनकी उपयोगिता समाज रचना, देशकाल तथा परिस्थितिके अनुसार तय की जाती है। पाशविकता के सामने इन व्यक्तिधर्मों की उपयोगिता नहीं। इन बातों का विश्लेषण करते युध्द अनिवार्य था, वह पाप नहीं था।

युध्द और शांति -

तृतीय सर्गमें प्रथम दो सर्गोंके धरातल पर अगला विश्लेषण प्रस्तुत किया है। कुरुक्षेत्र का प्रतिपाद्य विषय इस सर्गमें दिखाई देता है। शांति की समस्यापर विचार मंथन किया है। युध्द निंद्य होते हुए भी अनिवार्य क्यों और कब बनता है ? इसका विवेचन करते हुए वे कहते है -

सर्गारंभमें ही वे कहते हैं -

" समर निंद्य है धर्मराज
कहो शांति वह क्या है ?
जो अनीतिपर स्थित होकर भी
बनी हुई सरला है।"[१]

सभी शांतिप्रिय है। कोई उसका इच्छुक नहीं होता विवश होकर युध्द करना पडता है। युध्द क्रूरकर्म है इसलिए निंद्य है। जहाँ पर शांति अनीतिपर, अत्याचार पर शोषण पर आश्रित है, वहाँ शांति काम नहीं आती। शांति का विशुध्द रूप तो न्याय पर

---

१. रामधारीसिंह दिनकर - कुरुक्षेत्र, तृतीय सर्ग, २३वा संस्करण सन १९७४, पृ. २२

आश्रित होता है। जो अहिंसा, सत्य प्रेम पर निर्भर है। शांति का दूसरा रूप है जो अन्याय और शोषण के नाम पर चलती है, यह कृत्रिम शांति, जो शोषक निर्माण करते हैं। अन्याय, अत्याचार शोषण से दबी जनता के मनमें क्रांति की भावना उत्पन्न होती है। उनकी दमित भावनाओं का उद्रेक तुफान के रूपमें एक दिन अवश्य युध्द रूपमें बाहर आता है। यहाँ युध्द के लिए उत्तरदायी है — अन्यायी अत्याचारी शासक न कि शोषित समाज। आगे वे कहते हैं -

" जहाँ पालते अनीति - पध्दति
को सत्ताधारी,
जहाँ सूत्रधर हो समाज के
अन्यायी अविचारी, "[१]

जहाँ क्रांति होती है, क्षुधितों का ग्रास छीन लिया जाता है, नीतियुक्त सत्ता का आदर नहीं होता, "जियो और जीने दो" की भावना लुप्त हुई हो, सुख का सम्यक् विभाजन नहीं, स्वार्थ लोलूपता जहाँ बढ रही हो, नीति, नय का जहाँ राज्य नहीं, जनता का स्वातंत्र्य खड्ग के तल जहाँ दबा हो, वहाँ युध्द होते हैं।

इसलिए दिनकर के भीष्म कहते हैं युध्द को बुलानेवाला वही है, जो उपर्युक्त बातों को बढावा देता है। ऐसी विषम अवस्थामें पल रही शांति, कृत्रिम शांति - जनमानसमें विद्रोह की भावनाओं को बढाती है। ऐसी कृत्रिम शांति से वे युध्द को बेहतर मानते हुए कहते हैं -

---

१. रामधारीसिंह दिनकर - कुरुक्षेत्र - तृतीय सर्ग, २३ वा संस्करण १९७४, पृ. २३.

" सुख समृध्दि का विपुल कोष
संचित कर कल, बल, छल से
किसी क्षुधित का ग्रास छीन
धन लूट किसी निर्बल से"[१]

" अहंकारी शासक कभी लूटसे, कभी उपेक्षासे, कभी दमनसे कभी अपमानसे, कभी बाणों के समान बेधनेवाले वचनसे प्रजाको दु:ख देते हैं। ऐसे अन्यायी शासकों के सामने प्रजाजन संयम छोड कर यमराज का रूप धारण करके उन पर टूट पडते हैं। अत: भीष्म युधिष्ठिर को प्रश्न करते हैं - संसार को जलानेवाली उस भयंकर आग का उत्तरदायित्व किस पर होगा ? शासक या प्रजाजन ?"[२] भीष्म अहंकारी शासक को ही इस युध्द का उत्तरदायी बताते हैं।

अत: भीष्म इस निर्णय पर आ पहुँचते हैं कि सच्ची शांति न्याय पर आश्रित रहती है। अत: अन्यायी के प्रति प्रतिशोध की भावना बुरी नहीं कही जा सकती।

आज के जीवनमें सामाजिक और आर्थिक विषमता की बाधाएँ पडी है। जिन के कारण विश्वमें दु:ख एवं अशांति व्याप्त है। द्वितीय महायुध्द ने मनुष्य की चिन्तन की दिशा ही बदल डाली।

न्यायोचित अधिकार माँगने से न मिलता है तो उसे छीनकर लेने की बात पितामह युधिष्ठिर को कहते हैं। स्वत्व प्राप्ति के लिए युध्द करना पाप नहीं, । स्वत्व की प्राप्ति याचना से नहीं होती, और यदि

---

१. रामधारीसिंह दिनकर - कुरुक्षेत्र - तृतीय सर्ग, २३ वा संस्करण, १९७४, पृ. २२.

२. रामधारीसिंह दिनकर - कुरुक्षेत्र - तृतीय सर्ग, २३ वा संस्करण, १९७४ पृ. २४.

माँगने से न मिले तो शास्त्र उठाना अनिवार्य हो जाता है। इसे पाप नहीं कहा जाता -

" किसने कहा पाप है समुचित
स्वत्व प्राप्ति हित लडना
उठा न्याय का खड्ग समरमें
उभय मारना मरना "[1]

और

" न्यायोचित अधिकार माँगने
से न मिले, तो लडके
तेजस्वी छीनते समर को
जीत, या कि खुद मरके" [2]

" जब तक स्वार्थी दूसरों के स्वत्व का हरण करेंगे तब तक विश्वमें युध्द अनिवार्य है। धर्मराज को पितामहने युध्द की अनिवार्यता बताई है।

लेकिन इससे क्या शांति प्रस्थापित होगी ? इसके बारेमें निम्नलिखित उध्दरण दृष्टव्य है -

" स्वत्व प्राप्ति के लिए भी क्यों न हो, यदि युध्द करना पडे तो चिरसुरक्षा शांति प्राप्त नहीं हो जाती। एक युध्द अनेक अनागत युध्द की नींव डालता है।"[3]

---

१. कुरुक्षेत्र, रामधारीसिंह दिनकर तृतीय सर्ग, २३ वा संस्करण १९७४ पृ. २६.

२. रामधारीसिंह दिनकर कुरुक्षेत्र, २३ वा संस्करण, तृतीय सर्ग, १९७४ पृ. २६.

३. डॉ. गो. रा. कुलकर्णी, पौराणिक काव्य आधुनिक संदर्भ, पृ. १०२.

तो क्या स्वत्व की रक्षा नहीं करनी चाहिए ? शोषित जिये कैसे ? इसीलिए अन्याय को सहते रहना पापियों को उकसाना है, उन्हें प्रेरित करना है। इसलिए कुरुक्षेत्र के भीष्म बार बार ये दोहराते हैं कि,

" स्वत्व माँगने से न मिले संधि के नीतियुक्त प्रस्ताव का जहाँ आदर न हो जहाँ, सुख शांति का विपुल कोष, कल बल छल से संचित किया हो, सुख का सम्यक विभाजन नहीं हो, न्यायोचित अधिकार की याचना करने के बाद भी न मिले, जहाँ सत्ताधारी अन्यायी अत्याचारी अविचारी हो, जिसकी सत्ता अनीति पध्दति पर टीकी हो, अहंकार, घृणा का द्वंद्व हो वहाँ शांति कैसे बनी रहे ?"[1] और ये -

" सहते सहते अनय जहाँ
मर रहा मनुज का मन हो
सम्मुख का पुरुष अपने को
धिक्कार रहा जन जन हो"[2]

इसके विरोध में आवाज उठाना व्यक्तिधर्म बनता है। और कृत्रिम शांति के तलमें जो चिनगारी छिटक रही हो, जहाँ शोषितों का हृदय क्रोध से भभक रहा हो वहाँ शांति का संचार कैसे हो सकता है। मनुष्य प्रकृति ही इसके कारणीभूत है। वह जन्मत: अविचारी, विस्फोटक वृत्ति का है वह जो कुछ करना चाहता है, उसका मेल कभी नहीं हो पाता, और उससे वाद-विवाद उत्पन्न होते हैं। इन विवादों को हम मिटा भी सकते हैं। इसलिए उसके स्वत्व की रक्षा तथा उसके

---

१. रामधारीसिंह दिनकर- कुरुक्षेत्र - २३ वा संस्करण १९७४, पृ. २२, २३.
१. रामधारीसिंह दिनकर - कुरुक्षेत्र - २३ वा संस्करण १९७४, पृ. २३.

न्यायोचित अधिकार उसे मिलना चाहिए, यह उसकी पहली आवश्यकता है। दूसरा है, उसका मनुष्य स्वभाव। जब उसके स्वातंत्र्य पर कोई बाधा उत्पन्न करता है, तो वह उसका विरोध करता है। और एक दिन उसका विरोध भयंकर रूप धारण करके क्रांति के लिए प्रवृत्त होता है, और समाज की स्थिरता नष्ट होती है और युध्दरूपी राक्षस कोई न कोई बहाना लेकर कूद पडता है। शांति भंग हो जाती है और जनमानसमें क्रांति का विस्फोट होता है।

लोकतंत्री राज्यमें व्यक्ति स्वातंत्र्य को महत्व दिया गया है। मनुष्य अपने अधिकारों की रक्षा लोकतंत्री राज्यमें करता है। लेकिन वास्तविकता यह है कि उसे वह आसानीसे पा नहीं सकता। लोकतंत्री राज्य होकर भी आज वह किसी न किसी दासतामें बँधा हुआ है, उससे बाहर निकलने के लिए वह चाहता है, पर उसके पैरोंमें जंजीरें हैं। अधिकारों की माँग करता है। कोई सुनते तक नहीं। तो यही विचार समुदायमें आकर क्रांति का विचार करने लगता है।

युधिष्ठिर को पितामह भीष्म पूछते हैं कि, जब अपने अधिकार माँगने से न मिले और संगठन करके युध्द किया जाय और उसे पाप समझा जाय, तो उस अन्यायमें पिसती हुई जनता, जीवित रहे या मर जाय ? अत: अपने उचित अधिकारों की प्राप्ति के लिए किया गया युध्द पाप नहीं हो सकता। न्याय की रक्षा तथा अधिकार प्राप्ति के लिए युध्दमें मरने या मारने के लिए उठाया गया खड्ग पापी नहीं हो सकता। अन्याय का प्रतिकार करने के लिए देहबल की आवश्यकता है। कौरवों के अन्याय को बताते हुए पितामह भीष्म कहते हैं –

" पिया भीमने विष, लाक्षागृह
जला, हुए वनवासी सभी
केशाकर्षिता प्रिया सम्मुख
कहलायी दासी "[1]

कुरुक्षेत्र के भीष्म इसका उत्तर देते हैं - शठे शाठ्यं समाचरेत्, घात का उत्तर प्रतिघात से, आदि गीता की नीति अपनाते हैं। क्योंकि यदि तप, करुणा, क्षमा, दया की नीति को अपनाकर और कितने ही विनयशील होने के बावजूद भी दुर्योधन जैसे अत्याचारी में, आततायी व्यक्तिमें परिवर्तन अपेक्षित नहीं, तो उन बातों का क्या औचित्य है ?

दिनकर के भीष्ममें इन विचारों की उपज तत्कालीन अंग्रेजी शासक तथा उनके साथ गांधीजी का व्यवहार है। कुरुक्षेत्र के समीक्षक कहते हैं -

" महात्मा गांधी ने सत्य और अहिंसा के बल पर स्वाधीनता प्राप्त करने का प्रण किया था। वे चाहते थे कि बिना युध्द किए, संघर्ष किए - शांतिपूर्ण आन्दोलन तथा असहयोग से ही देश की स्वतंत्रता को प्राप्त किया जाए। द्वितीय विश्वयुध्द के पश्चात उनका यह प्रयोग खूब चल चुका था परंतु महात्मा गांधी की इस नीति का क्या परिणाम निकला ? हर बार बरतानिया सरकारने उन्हें धोखा दिया। झूठे आश्वासन देकर अपना उल्लू सीधा किया और अंग्रेजी शासन की जंजीरे और मजबूत की। यह एक ऐतिहासिक सत्य है, जिससे इन्कार नहीं किया जा सकता।"[2] और इसी बात का पितामह भीष्म भी

---

१. रामधारीसिंह दिनकर - कुरुक्षेत्र - तृतीय सर्ग, २३ वा संस्करण, १९७४, पृ. २७.

२. डॉ. तारकानाथ वाली - दिनकर और कुरुक्षेत्र - अष्टम संस्करण, १९७१ पृ. ६२.

प्रतिनिधित्व करते हैं -

" हिंसा का आघात तपस्या ने
कब, कहाँ सहा है
देवों का दल दानवों से
हारता रहा है "[1]

जितना देवों के दलने - [भारतीय जनताने] अंग्रेजों के अत्याचार को सहा है, उतने उनके अत्याचार बढते गए। यही समस्या पांडवों की भी थी। कौरवों के अत्याचार जितना पांडवों ने सहा था, उतने कौरव क्रूर होते गए। उनकी नीति कठोर होती गयी। दुर्योधन की राक्षसी शक्तियाँ और पनपने लगी और इसका यह फल भुगतना पडा कि, -

" अत्याचार सहन करने का
कुफल यही होता है।
पौरुष का आतंक
कोमल होकर खोता है।"[2]

अत्याचार सहने का परिणाम, यह हुआ कि दुर्योधन की कुटिलता अधिक बढ गई। युधिष्ठिर के क्षमा त्याग की नीति से दुर्योधन की वक्रता बढती गई।

पितामह भीष्म आगे कहते हैं क्षमा उसी व्यक्ति को शोभा देती है, जिसके पास क्षमा के साथ उसमें गरल रूपी शक्ति हो -

---

१. रामधारीसिंह दिनकर - कुरुक्षेत्र - तृतीय सर्ग, २३ वा संस्करण १९७४, पृ. २७.

२. रामधारीसिंह दिनकर - कुरुक्षेत्र - तृतीय सर्ग, २३ वा संस्करण १९७४, पृ. २८.

" क्षमा शोभती उसी भुजंग को
जिसके पास गरल हो
उसको क्या, जो दंतहीन
विषरहित विनित सरल हो "[1]

"क्षमा वीरस्य भूषणम" की बातें करते हैं। साहस, शक्ति के अभावमें सहिष्णुता, क्षमा का सहारा लेना कायर व्यक्ति का लक्षण है। संसार सहिष्णुता तथा विनय जैसे गुणों की तभी पूजा करता है, जब उसके पास सामर्थ्य हो। पितामहने प्रभु रामचंद्र के जीवन चरित्र की घटना देकर उपर्युक्त "क्षमा वीरस्य भूषणम्" की उक्ति को प्रमाणित किया है -

" तीन दिवस तक पंथ माँगते
रघुपति सिंधु-सिधारे,
बैठे पढते रहे छन्द
अनुनय के प्यारे प्यारे "[2]

उत्तरमें कुछ नहीं मिला। तब क्रोधमें आकर रामने बाण छोडा तो -

" सिंधु देह धर "त्राहि-त्राहि"
करता आ गिरा शरणमें
चरण पूजा, दासता ग्रहण की
बँधा मूढ बंधनमें "[3]

---

१. रामधारीसिंह दिनकर-कुरुक्षेत्र-तृतीय सर्ग-२३ वा संस्करण, १९७४, पृ. २८
२. वही. पृष्ठ २८ " " "
३. वही. पृष्ठ २८ " " "

स्वाभिमानी व्यक्ति कभी अन्याय को सह नहीं पाता। वह तो अन्याय का प्रतिशोध लिए बिना शान्त नहीं रह पाता। अन्याय का बदला लेने के लिए प्रतिशोध की भावना होना वीरता का लक्षण है अन्यथा -

भीष्म कहते हैं -

" प्रतिशोध से होती है शौर्य की शिखाएँ दीप्त।
दीप्त प्रतिशोध हीनता नरोंमें महापाप है।
छोड प्रतिवैर पीते मूक अपमान वे ही
जिनमें न शेष शूरता का वहिन-ताप है
चोट खा सहिष्णु वह, रहेगा किस भाँति तीर -
जिसके निषंग में, करोंमें दृढ चाप है
जेता के विभूषण सहिष्णुता, क्षमा है - किंतु
हारी हुई जाति की सहिष्णुताऽभिशाप है।"[1]

भीष्म के इन विचारों का प्रतिपादन "कुरुक्षेत्र" में होने के कारण उन पर हिंसावादी होने का आरोप लगाया जाता है - किंतु इन बातों का निराकरण "कुरुक्षेत्र" में ही किया है न वे हिंसावादी है, न अहिंसावादी उन्होंने तो हिंसा, घृणा, प्रतिशोध आदि को आपध्दर्म के रूपमें स्वीकार किया है। क्योंकि -

क्योंकि कोई कर्म ऐसा नहीं,
जो स्वयं ही पुण्य हो या पाप हो
औ समर तो और भी अपवाद है

---

१. रामधारीसिंह दिनकर - कुरुक्षेत्र - तृतीय सर्ग, २३ वा संस्करण पृ. ३०.

चाहता कोई नहीं इस को, मगर,
जूझना पडता सभी को, शत्रु जब
आ गया हो द्वार पर ललकारता"[1]

महाभारत के भीष्म भी यही कहते हैं।

यहाँ पितामह भीष्म मनुष्यमें प्राकृतिक रूपमें स्थित गुणों को बता रहे हैं। प्रतिशोध की भावना मनुष्यमें होना स्वाभाविक है। यदि साँप स्पर्श पाते ही बदले की भावना से फुफकार उठता है, काँटो पर पाँव पडते ही वह चुभता है, आग को स्पर्श करते ही जला देने का गुण उसमें है, इसी तरह मानवमें अन्याय के विरुद्ध प्रतिशोध की भावना होना सहज है।

प्रतिशोध की भावना यदि किसी में न हो तो वह उसकी दुर्बलता है, कायरता है।

आगे पितामह भीष्म कहते हैं -

"जड और चेतनों का वह जन्मसिध्द अधिकार है।"[2]

गीता, ज्ञानेश्वरी, गीतारहस्य का प्रभाव यहाँ दिनकर के भीष्म पर भी दिखाई देता है।

महाभारत के भीष्म क्षत्रियत्व के लिए प्रतिशोध की भावना को अनिवार्य मानते हैं, तो कुरुक्षेत्र के भीष्म इससे भी आगे जाकर सारे संसारमें यह बदला लेने की भावना का तेज चमकता हुआ दिखाई देने की बात करते हैं।

---

१. रामधारीसिंह दिनकर - कुरुक्षेत्र - तृतीय सर्ग - २३ वा संस्करण पृ. ३०.
२. वही पृष्ठ " "

प्रतिशोध की भावना का प्रतिपादन करने के बाद भीष्म युधिष्ठिर को संबोधित करते हुए यह सवाल खडा कर देते हैं कि, युध्द को बुलानेवाला कौन है ? वह जो कि अन्याय का झंडा लेकर चलनेवाले युध्द को बुलाता है, या वह जो अन्याय के सिर पाँवों के नीचे कुचलता है वह ? जो व्यक्ति की दमन की भयंकर चट्टानसे दबा हुआ है, वह युध्द का कारण हो सकता है अथवा जो आनंदमें मस्त होकर चलता है वह ? जो स्वयं अशांत भूख को आगमें जला रहा है वह युध्द का कारण बन सकता है या जो बनावटी शांति का जाल फैला कर सुख लूट रहा है वह ? कौन युध्द को बुलाता है ? जाल बनाकर उसमें निर्दोषों को फँसानेवाला अथवा जाल को काटने के लिए क्रोधित यमराज के समान आँख बटानेवाला ?"[1]

भीष्म युधिष्ठिर को पूछे गए सवालों का उत्तर देते हुए स्पष्टीकरणमें कहते हैं - दलितों का खड्ग पापी नहीं होता -

" पातकी न होता है प्रबुध्द दलितों का खड्ग
पातकी बताना उसे दर्शन की भ्रांति है
शोषण की शृंखला के हेतु बनी जो शांति
युध्द है यथार्थ में वो भीषण अशांति है,
सहना उसे ही मौन हार मनुजत्व की है ?
इच्छा की अवज्ञा घोर, पौरुष को भ्रांति है,
पातक मनुष्य का है, मरण मनुष्यता का
ऐसी शृंखलामें धर्म विप्लव है क्रांति है"[2]

---

१. रामधारीसिंह दिनकर - कुरुक्षेत्र - २३ वा संस्करण १९७४, पृ. ३१.
२. रामधारीसिंह दिनकर - कुरुक्षेत्र - २३ वा संस्करण १९७४, पृ. ३२.

दिनकर के भीष्म दर्शन शास्त्रमें बताई बात का खंडन करते हुए कहते हैं कि, भूखा मनुष्य सभी प्रकार के पाप करता है। उनका कहना है कि, जिसे पेट का सवाल नहीं, जो शोषक है वही बुभुक्षितों का ग्रास छीन लेता है। और उसी समय कृत्रिम शांति शोषण के लिए साधन बनाती है। यह तो - कृत्रिम शांति युध्द की पहली सीढी है। क्या इसे चुपचाप सह लेना चाहिए ? या उसके विरोधमें आवाज उठानी चाहिए। यदि इसे सहा जाय तो वह मानवता की पराजय ही है। चुपचाप उसे सहनेवालाही अन्याय, शोषण के लिए बढावा देता है। इसलिए पितामह भीष्म युध्द का उत्तरदायित्व किस पर होना चाहिए ये सवाल खडा कर देते हैं। आज भी हिंसा के प्रति प्रेम का भाव व्यक्त किया जाता है। जहाँ छल, कपट, अहंकार जन्य वातावरण है वहाँ प्रेम, ममत्व का महत्व कहा ? इसलिए वे धर्मराज को कहते हैं -

" भूल रहे हो धर्मराज तुम
अभी हिंस्र भूतल है,
खडा चतुर्दिक अहंकार है
खडा चतुर्दिक छल है "[1]

और

" क्योंकि युधिष्ठिर एक, सुयोधन
अगणित अभी यहाँ है
बढे शांति की लता हाय
वे पोषक द्रव्य कहाँ है ?"[2]

---

१. रामधारीसिंह दिनकर-कुरुक्षेत्र-२३ वा संस्करण १९७४, पृ. ३२.
२. रामधारीसिंह दिनकर-कुरुक्षेत्र-२३ वा संस्करण १९७४, पृ. ३३.

दिनकर के भीष्म कहते हैं, पृथ्वी पर स्नेह का साम्राज्य होकर सभी व्यक्ति भाई - भाई की तरह व्यवहार करे और संसार को क्रोध और अशांति की आगसे बचाये।

लेकिन यहाँ सवाल यह उठता है कि आज के इस आधुनिक कहे जानेवाले समाजमें भाई - भाई के संबंध इतने प्रेम और अपनेपन की भावना से दृढ है क्या ? यहाँ पर प्राचीन समाज के व्यक्ति संबंधोंपर प्रकाश अवश्य पडता है। लेकिन आज भाई-भाई, पती-पत्नी, माँ-पुत्र आदि अनेक रिश्ते के नींवमें कहीं प्रेम वास करता हुआ दिखाई देता है क्या ? हाँ, कहीं कहीं अपवाद के रूपमें ये स्नेह के सम्बध हमें दिखाई देते हैं यह बात अलग है। पर कहीं कहीं दिखाई देना, और कहीं कहीं नहीं दिखाई देना इसमें बहुत बडा अंतर है। मनुष्य हृदय तो द्वेष, मत्सर और शत्रूता से भरा है। हमेशा प्रेम के बीज बोते रहे, यह सिध्दांत के रूपमें अच्छा है, पर यथार्थमें इससे पूर्णत: विपरित स्थिति अशांति का कारण बन गई है। इसलिए भीष्म को भी मजबूर होकर कहना पडा है कि -

" अभी शांति का स्वप्न दूर
नभमें करता जगमग है "[1]

आनेवाली पीढि से आशा की जा सकती है पर वह भी आकाश को हाथ पहुँचने की उम्मीद से। वर्तमान समाज में शांति की महत्ता को स्वीकार किया है पर उसे पाने के लिए बहुत साधना करनी आवश्यक है। जब तक युधिष्ठिर एक और दुर्योधन अगणित है तब तक शांति का तत्व ढूँढना कहाँ तक उचित है ? क्योंकि कोई बाहरी साधन वस्तु नहीं जिसे खरीद कर प्रस्थापित करे। मनुष्य के अंतस्तल के

---

१. रामधारीसिंह दिनकर-कुरुक्षेत्र-२३ वा संस्करण, तृतीय सर्ग, १९७४ पृ. ३३.

प्रकार कुरुक्षेत्र का युध्द का कारण बनावटी शांति का परिणाम ही था, इसकी ओर संकेत करते हुए भीष्म आगे कहते हैं -

" कुरुक्षेत्र में जली चिता जिसकी
वह शांति नहीं थी
अर्जुन की धन्वा चढ़ बोली
वह दुष्क्रांति नहीं थी "[1]

कुरुक्षेत्र में जो विनाश हुआ उसके अशांति का कारण था, दूसरों के अधिकार छीन लेना, दूसरों का स्वत्व लेना। यदि अपना स्वत्व, अधिकार कोई छीन रहा हो और हम चुप बैठे तो इससे शांति रहेगी ? या उसका विरोध करेंगे तो अशांति निर्माण होगी ? अपना सर्वस्व हिंसक, अत्याचारों को समर्पित करके जीना कैसे ? इसीलिए न्याय को शांति का प्रथम न्यास कहा है। उसको कौन चुराता है वह पापी-योग्य है।

" पापी कौन ? मनुज से उसका
न्या चुरानेवाला
याकि न्याय खोजते किन का
सीस उडानेवाला ?"[2]

युध्द तथा शांति के बारेमें उपर्युक्त प्रतिपादन भीष्म के माध्यम से दिनकरने किया है। कुरुक्षेत्रमें प्रतिपादित युध्द दर्शन कवि दिनकर के इर्द-गिर्द की परिस्थिति का ही प्रमाण है।

---

१. रामधारीसिंह दिनकर-कुरुक्षेत्र -२३ वा संस्करण १९७४, पृ. ३५
२. रामधारीसिंह दिनकर-कुरुक्षेत्र -२३ वा संस्करण १९७४, पृ. ३६.

अणु अणुमें, अपने आप ही अंतरात्मामें से प्रवाहित होकर फूट पडनी चाहिए। अत: शांति स्थापित करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति का हृदय परिवर्तन होकर शांतिपूरक वातावरण की निर्मिती होना चाहिए। इससे पहले यह आवश्यक है कि, शांति की आवश्यकता प्रत्येक व्यक्ति को महसूस होनी चाहिए। और बादमें समुदाय।

शांति की वास्तविक रूप की कल्पना कवि दिनकर भीष्म के माध्यम से करते हैं -

" यह रक्तती परिपूर्ण नृपों से
जरासंध की कारा
शोणित कभी, कभी पीता है
तप्त अश्रु की धारा "[1]

यह कृत्रिम शांति है। जरासंध अत्याचारी अन्यायी शोषक था। उसके राज्यमें भी शांति थी, क्योंकि वह तलवार के बलपर टीकी थी, भयग्रस्त थी। वह शांति थी, जो लोगों का खून चूसचूस कर पनप रही थी। लेकिन क्या वह शांति स्थायी रही ? क्या राजा जरासंध की शांति जो दु:खी लोगों का खून पीती है, दु:खियों के आँसू पीती है, समाज को रूलाया करती है, जलाया करती है, चिरंतर रूपमें रही ? उसका अंत कैसे हुआ ? कृत्रिम शांति जो अन्याय, विषमता, शोषण के नींव पर खडी है उसको वही खतम कर देना आवश्यक है इसलिए भीष्म भी कहते हैं - ऐसे शांति का मूल उखाड कर फेंको। इसके विरोधमें किया गया युध्द कोई पाप नहीं बल्कि पुण्य है। जो शांति शक्ति, अहंकार, सत्ता के बल पर टीकी है, वह चिरस्थायी नहीं रहेगी।

---

१. रामधारीसिंह दिनकर - कुरूक्षेत्र - २३ वा संस्करण १९७४, पृ. ३५

कर्मयोगी भीष्म -

दिनकर के भीष्म कर्मवादी है। इसीलिए भाग्यवाद, प्रारब्ध आदि बातों का बार बार खंडन करते दिखाई देते हैं। भाग्यवाद, प्रारब्ध, पूर्वजन्म का फल, नसीब आदि बातों का प्रतिनिधित्व करता है - स्वातंत्र्य-पूर्व भारतीय समाज। अन्यायों का सहना, ये पूर्वजन्म का फल है इसलिए आज हम इसे भोग रहे हैं। इस प्रकार की धारणा अंग्रेज सत्ता कालीन भारतीयों की थी। भाग्यवाद पर रोनेवालों पर यह करारा व्यंग्य है। युधिष्ठिर को कर्म की ओर प्रवृत्त करते हैं। पितामह भीष्म सप्तम सर्गमें कर्म का संदेश देते हैं। मनुष्य को सुख की प्राप्ति अपने प्रारब्ध के बलपर नहीं मिलती बल्कि पुरुषार्थ - कर्तृत्व के बलपर ही मिलती है। मनुष्य के सुख का रहस्य उसके सदैव उद्योगशील रहनेसे खुलता है। महाभारत के भीष्म से प्रभावित, गीतासे प्रभावित कुरुक्षेत्र के भीष्म भी यही कहते हैं -

" ब्रह्मा से कुछ लिखा भाग्य में
मनुज नहीं लाया है,
अपना सुख उसने अपने
भुजबल से ही पाया है

भीष्म आगे कहते हैं -

यह धरती किसी की क्रीतदासी नहीं। किसी एक की संपत्ति नहीं है। सबको समान रूपसे इसका उपभोग करने का अधिकार है। ईश्वरने मनुष्य को जो शक्ति दी है उसका उपयोग करके मनुष्य ने प्रकृति पर विजय पायी है। वह अपने परिश्रम से सुख पाता है। यह प्रकृति

---

१. रामधारीसिंह दिनकर - कुरुक्षेत्र- २३ वा संस्करण, १९७४, सप्तम सर्ग, पृ. ९१.

किसी शक्तिशाली मनुष्य को देखकर डर नहीं पाती। भाग्यवाद पर आश्रित रहनेवालों को प्रकृति के रहस्यों का ज्ञान नहीं होता। मनुष्य के श्रमजल से ही प्रकृति भी मनुष्य से पराजित हो सकती है। इससे ही मनुष्य की शक्ति का विकास होता है। इसका विकास करने के लिए उसे सदैव प्रयत्नशील रहना आवश्यक है।

भाग्यवाद को ठुकरा कर उसे वे पाप का आवरण समझते हैं।

" भाग्यवाद आवरण पाप का
और शस्त्र शोषण का
जिससे रखता दबा एक जन
भाग दूसरे जन का "[१]

भाग्यवादी लोगों पर वे तीखा व्यंग्य करते हैं। पूर्वजन्म के फल की भोगने के सिध्दांत को दिनकर ने असत्य बताया है। दूसरों के खून को चूसनेवाले पापी लोग ही भाग्यवाद के सहारे अज्ञानी व्यक्तिओं को पूर्वजन्म की बातें बताकर धोखेमें डालते हैं।

" एक मनुज संचित करता है
अर्थ पाप के बल से
और भोगता उसे दूसरा
भाग्यवाद के छल से "[२]

वास्तवमें भाग्यवाद की मान्यता दूसरों की मेहनता का अनुचित लाभ उठाने के लिए है, तथा अन्यायपूर्ण रीति से धन प्राप्त करने के

---

१. रामधारीसिंह दिनकर - कुरुक्षेत्र - २३ वा संस्करण, १९७४, पृ. ९४ सप्तम सर्ग.

२. रामधारीसिंह दिनकर - कुरुक्षेत्र - २३ वा संस्करण, १९७४, पृ. ९५ सप्तम सर्ग.

लिए है।

इसका शिकार थे, भारतवासी। अंग्रेजों के गुलामी के दासतामें रहना यह उन भाग्यवादी लोगों का रोना ही था। उनका खून चूसना, उनके मेहनतों का फल पाना, भाग्यवादी लोगों का अनुचित लाभ उठाया अंग्रेजों ने। यह युगधर्म की पुकार दिनकर का भीष्म करता है। वह युग की धडकन बनता है। महाभारत के भीष्म से अलग व्यक्तित्व रखता है ।

यह भाग्यवादी परम्परा आज भी विज्ञानयुगमें चली आ रही है। मनुष्य आज भी भाग्य पर होते हुए देखकर कुरुक्षेत्र के भीष्म को ये कहना पडा कि -

" नर समाज का भाग्य एक है,
वह श्रम, वह भुज - बल है,
जिसके सम्मुख झुकी है
पृथिवी, विनीत, नभ तल है।"[1]

इसलिए वे धर्मराज को भी कहते हैं -

श्रम होता सबसे अमूल्य धन,
सब जन खूब कमाते
सब अशंक रहते अभाव से,
सब इच्छित सुख पाते।[2]

दिनकर के भीष्म भाग्यवाद का कठोर शब्दोंमें विरोध करते हुए उस ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं कि विश्वमें साम्यभावना के

---

१. रामधारीसिंह दिनकर - कुरुक्षेत्र - सप्तम सर्ग, २३ वा संस्करण, १९७४, पृ. ९५
२. रामधारीसिंह दिनकर - कुरुक्षेत्र - सप्तम सर्ग, २३ वा संस्करण, १९७४, पृ. ९६.

प्रचार और प्रसाद के माध्यम से श्रम को - पुरुषार्थ को - कर्तृत्व को मानव की पहली आवश्यकता बताते हैं। भाग्यवाद को समाप्त करने के लिए भुजबल को महत्व देते हैं।

भाग्यवाद पर कर्मवाद की विजय दिखानेवाले भीष्म की योजना करने में कवि दिनकर की निजी विशेषता है क्योंकि -

" बात बात पर ईश्वर की कृपा की याचना करनेवाले, हर समस्या को लेकर भाग्य को रोना रोनेवाले उदय कालीन दिनकरमें अब प्रचंड विश्वास की किरणें फूटी है। उनमें मध्याह्न के सूर्य की प्रखरता और शक्ति आ गई है। मनुष्य की शक्ति पर उनका विश्वास दृढ हो गया है। मनुष्य की कर्मशक्ति और प्रज्ञा अब उन्हें दुर्लभ से दुर्लभ अभीष्ट की प्राप्तिमें समर्थ जान पडती है। भाग्यवाद पर कर्मवाद की विजय की स्थापना करते हैं।"[१]

नवीन समाज रचना की कल्पना -

सप्तम सर्गमें भीष्म कहते हैं - प्रत्येक मनुष्य को अपनी उन्नति के लिए स्वतंत्रता मिलनी चाहिए इसलिए युधिष्ठिर के सामने उस आदर्श युग का वर्णन करते कहते हुए कहते है -

" राजा-प्रजा नहीं था कोई
और नहीं शासन था,
धर्म-नीति का जन-जन के

---

१. डॉ. साकिरी सिन्हा - युगचारण दिनकर, प्रथम संस्करण १९६३, पृ. १२५।

मन-मन पर अनुशासन था।"[१]

आगे धर्म-नीति के अनुशासन में अचानक राजा की राजसंस्थाओं की आवश्यकता क्यों पड़ी इसका कारण बताते हुए वे कहते हैं -

उसकालमें किसी भी व्यक्ति को अपने स्वार्थ या अपने हित के लिए कोई चिंता नहीं रहती थी। दूसरों का हिस्सा चुराकर अपना घर भरने की भावना किसी के मनमें नहीं आती थी। राजा प्रजा, शासक-शोषित इसकी कोई व्यवस्था नहीं थी। समाजमें रहनेवाले सभी व्यक्ति-धर्म और नीति आदर्श का पालन करते थे।

आजके मनुष्य की अधिकार की रक्षा दंडविधान द्वारा होती है किंतु उस युगमें सभी मनुष्य दूसरों के अधिकार का पालन करते थे, धर्म के अनुसार जीवन व्यतीत करते थे, इसलिए शासन की आवश्यकता ही नहीं थी। जीवन का मार्ग सरल एवं सीधा था, चारों दिशाएँ मनुष्य के लिए खुली थी, अर्थात सबको पूर्ण स्वतंत्रता थी।

इस प्रकार मनुष्य की उन्नति के सब साधन उपलब्ध थे। तभी अचानक कलियुग की बुरी भावनाएँ स्वार्थ एवं लोभ का धारण करके मनुष्यमें प्रविष्ट हो गई। कभी इसमें प्रकृति के कोप से अकाल पडा, अनेक व्यक्ति मारे गए। जीवितों का हृदय अधीर होकर सोचने लगा - यदि धन संचय किया होता तो आज इस प्रकार मुझे दूसरों की भाँति न रोना पडता।

और, "जगा सचमुच, मनुष्य
पछतावे - से घबराकर,

---

१. रामधारीसिंह दिनकर - कुरुक्षेत्र - २३ वा संस्करण, १९७४, पृ. ९७।

लगा जोडन लगा अपना धन
औरों की आँख बचा कर "[1]

और -

लोभ - नागिनी ने विष फूँका
शुरु हो गयी चोरी,
लूट, मार, शोषण, प्रहार
छीना - झपटी, बरजोरी।[2]

इसी लोभ रूपी नागिन के कारण मनुष्य अपनी नीति, अपना आदर्श भुल चुका था। आदर्श युगपर कलियुग स्वार्थ रूपी नागिन अपना अधिकार जमाकर बैठ गयी। इससे लूट, मार, शोषण, छीना झपटी का बोलबाला शुरु हुआ।

यहाँ भीष्म लोभही पाप का कारण बताते हैं। [लोभ पापस्य कारणम्] और इसी का परिणाम हुआ - संसारमें खड्गधर मनुष्य शासक बन गया।

" और खड्गधर पुरुष विक्रमी
शासक बना मनुज का,
दण्ड-नीति-धारी त्रासक
नर-तन में छिपे दनुज का"[3]

---

१. रामधारीसिंह दिनकर -कुरुक्षेत्र - २३ वा संस्करण, १९७४, पृ. ९९।
२. रामधारीसिंह दिनकर -कुरुक्षेत्र - २३ वा संस्करण, १९७४, पृ. ९९।
३. रामधारीसिंह दिनकर -कुरुक्षेत्र - २३ वा संस्करण, १९७४, पृ. १००।

आदर्श युगमें नर नरमें प्रेम, नय से सुख-भाग मिलते थे। पर वही कलियुगमें खड्ग के भय से मिलने लगे। मनुज आज तलवार की भाषा को जानता है, शीतल उद्गारों की अवहेलना होती रही। और इसी समय -

" इससे बढकर मनुज - वंश का
और पतन क्या होगा
मानवीय गौरव को बोलो
और हनन क्या होगा ?"[1]

ऐसे नर समाज को खड्गधर नृपतिकी आवश्यकता रही। लोभ, मार, शोषण, प्रहार, बरजोरीसभी समाज का अधिपत्य करने के लिए भीष्म ने ऐसे राजा की कल्पना की है -

" पर-समाज को एक खड्गधर
नृपति चाहिए भारी,
डरा करें जिससे मनुष्य
अत्याचारी अविचारी"[2]

जिस तरह लोभ एवं संग्रह की भावना से परस्पर विश्वास, स्नेह, कर्ममें संन्यस्त, धर्मनीति से अनुप्राणित आदि मूल्य ढह गए, और अन्यायी अत्याचारी शासक के हाथमें सत्ता की बागडोर आ गई। खड्ग के बलपर समाज की शांति स्थापित की जाने लगी। उसी समय प्रजा के अधिकारों पर बाधा आयी इसलिए राजतंत्र-संस्कृति को आदर्श समाज के लिए कलंकित मानते हैं।

---

१. रामधारीसिंह दिनकर-कुरुक्षेत्र-२३ वा संस्करण, १९७४, पृ. १०१, सप्तम सर्ग
२. वही-पृष्ठ " " "

" राजतंत्र द्योतक है, नर की
मलिन निहीन प्रकृति का,
मानवता की ग्लानि और
कुत्सित कलंक संस्कृति का"[1]

फिर नवीन सामाजिक संरचना की कल्पना करते हैं, जो आदर्श जीवनमूल्योंपर आश्रित हो। कृतयुगीन समाज के समान आज भी परस्पर, स्नेह, लोभसे मुक्त, आदि विकासोन्मुख विचारसरणीपर समाज की पुनःर्निमाण की आवश्यकता बताते हैं। राज तंत्र के प्रतिक्रिया स्वरूपमें साम्यवाद की स्थापना करना चाहते हैं। ऐसी समाज व्यवस्था जिसमें समाज समर, शोषण का राज्य न होकर सुख - संतोष का सर्वत्र बोलबाला हो -

" श्रेय होगा मनुज का समता विधायक ज्ञान,
स्नेह सिंचित न्याय पर नव विश्व का निर्माण।
एक नरमें अन्य का निःशंक दृढ विश्वास,
धर्मदीप्त मनुष्य का उज्ज्वल नया इतिहास -
समर, शोषण, -ह्रास की विस्तावली से हीन
पृष्ठ जिस का एक भी होगा न दग्ध, मलीन।
मनुज का इतिहास जो होगा सुधामय कोष,
छलकता होगा सभी नर का जहाँ संतोष।"[2]

---

१. रामधारीसिंह दिनकर-कुरुक्षेत्र-२३ वा संस्करण, १९७४, पृ. १०२, सप्तमसर्ग।
२. रामधारीसिंह दिनकर-कुरुक्षेत्र-२३ वा संस्करण, १९७४, पृ. ८४, षष्ठ सर्ग।

अतः नवीन समाज रचना की नींव वर्गहीन भावना और स्वतंत्रता और साम्य के आधार पर की जानी चाहिए। राजतंत्र की निंदा करते हुए वे कहते हैं - नवीन समाज रचना आधारशिला समानता पर आधृत हो - क्योंकि -

" धर्मराज, यह भूमि किसी की
नहीं है क्रीतदासी है,
है जन्मता समाज परस्पर
इसके सभी निवासी "[1]

यहाँ महाभारत के भीष्म से अलग व्यक्तित्व कुरुक्षेत्र के भीष्म का है। जहाँ महाभारत के भीष्म सद्राजतंत्र की कल्पना करते हैं वहाँ कुरुक्षेत्र के भीष्म -

" नर है विकृत अतः नरपति
चाहिए धर्म ध्वज धारी
राजतंत्र है हेय, इसीसे
राजधर्म है भारी "[2]

राजतंत्र मनुष्य की मलिन एवं अधम प्रकृति का द्योतक बताकर उसके प्रतिकूल नवीन समाजवादी शासनप्रणाली का स्वर मुखरित होने के कारण दिनकर के भीष्म को साम्यवादी विचारधारा के, प्रगतिवादी विचारों के, मार्क्सवादी सिध्दांतों के समर्थक के नाम से घोषित करते हैं। लेकिन इन सबसे अलग उनका लक्ष्य है -

---

१. रामधारीसिंह दिनकर-कुरुक्षेत्र-२३वा संस्करण-१९७४, पृ. १०२, सप्तम सर्ग.
२. रामधारीसिंह दिनकर-कुरुक्षेत्र-२३वा संस्करण-१९७४, पृ. १०४, सप्तम सर्ग।

" मन का होगा आधिपत्य
जिस दिन मनुष्य के तन पर
होगा त्याग अधिष्ठित जिस दिन
योग-लिप्त जीवनपर "[1]

और -

" कंचन को नर साध्य नहीं
साधन जिस दिन जानेगा,
जिस दिन सम्यक् रूप मनुज का
मानव पहचानेगा "[2]

इन बातों की पुष्टि होती है निम्नलिखित कथन से -

" मार्क्सवादमें प्रतिपादित साम्य को दिनकर ने सदैव अधूरा माना है। कुरुक्षेत्रमें प्रतिपादित साम्य का आधार द्वंद्वात्मक भौतिक वाद नहीं है। शोषक के प्रति घृणा, शोषित के प्रति सहानुभूति उस मानवतावादी पृष्ठभूमिमें व्यक्त की गई है जिसमें आध्यात्मिक और भौतिक दोनों प्रकार के साम्य का संतुलन और सामंजस्य है। अगर करुणा दया, क्षमा, सत्य अहिंसा पर आधृत मानवतावाद को कुरुक्षेत्र का साध्य मान ले वह गांधी के बहुत निकट है और मार्क्स के बहुत दूर पडता है।"[3]

इसलिए दिनकर के भीष्म ने कंचन आदि के लिए कहीं साध्य नहीं माना है। मानव मानव का रूप जब पहचानता है - तब ही वह निजी सुख मानव को मानव पहचानने में देखता है।

---

१. रामधारीसिंह दिनकर-कुरुक्षेत्र-२३ वा संस्करण-सप्तम सर्ग, पृ. १२५, १९७५.
२. वही-पृष्ठ " "
३. डॉ. सावित्री सिन्हा-युगचारण दिनकर-प्रथम संस्करण १९६३, पृ. १२९।

इसलिए दिनकर के भीष्म न पूर्णत: साम्यवादी है न गांधीवादी न मार्क्सवादी। वे तो मानवतावादी है। इन सभीमें जो भी हितकारक अंश है उसे ही अपनाने की बात करते हैं। मार्क्सवादों का क्रांति का अंश उन्होंने अपनाया है, जिससे वर्ग वैषम्यता बढती है। वर्ग वैषम्यता के निवारण के लिए उन्होंने पहला कदम अपनाया है - न्याय और स्वत्व की प्राप्ति का। यदि साम, दाम द्वारा प्राप्ति नहीं होती तो दंडनीति अपनाना श्रेयस्कर मानते हैं। किसी भी प्रगतिशील समाजमें न्याय, समता, अधिकार, स्वधर्म, स्वत्व इनपर बाधा आनेपर अशांति का वातावरण फैलता है। शासक शोषण का साधन जहाँ बन जाता है, वहाँ इन मूल्यों का -हास हो जाता है।

गांधीजी, डॉ. आंबेडकर, आदिने इसके विरुद्ध आवाज उठायी थी। शोषण की चक्कीमें पीसनेवाली भारतीय शोषितों को उनके अधिकार दिलवाए। आंबेडकरजी ने शोषण को भाग्य की रेखा समझने-वाली जनताको उस भावना से परावृत्त किया था। महाड के तालाब के पानी पर दलितों का - शोषितों का हक वे दिलवा कर रहे और उनके अधिकारों की रक्षा की। ऐसे अनेक मसीहों ने शांति का स्थायी स्व प्रस्थापित करने के प्रयास किए। दिनकर के भीष्म के पास अन्याय के प्रतिकार के लिए उत्तर है -

> " रण रोकना है तो उखाड विषदंत फेंको,
> वृकव्याघ्र भीति से मही को मुक्त कर दो "[१]

यह क्रांतदर्शी विचार न साम्यवाद से प्रभावित है न मार्क्सवाद से। बल्कि उसकी जडे वे प्राप्त राजनीतिक, सामाजिक व्यवस्थामें देखते हैं। शताब्दियों से दास्यत्व के क्लेशमें भोगती जनता का क्रंदन उन्होंने सुना है। इसीलिए दिनकर के भीष्म विषम परिस्थिति को देखकर स्वयं

---

१. रामधारीसिंह दिनकर-कुरुक्षेत्र, २३ वा संस्करण, सप्तम सर्ग, १९७४, पृ. ९०।

क्रांति की आवाज उठाते हैं। क्रांति प्रेरणा उन्हें अतीत से मिली। १९१७ की रूस की क्रांति, इसका प्रतिफलन हुआ "जनता का शासन"। इसके अतिरिक्त प्रथम तथा द्वितीय महायुद्ध की ध्वंसजन्य स्थिति की ओर उन्होंने दृष्टिपात किया था। इसीलिए "कुरुक्षेत्र" के धर्मराज युधिष्ठिर को संतापग्रस्त स्थितिमें देखकर कहते हैं, कि अस्तित्व रक्षण के लिए किया गया युद्ध पाप न होकर जीवनधर्म बन जाता है। विजय को उपहार न माननेवाले युधिष्ठिर को समझाते हैं, दुर्योधन जैसे स्वार्थ लोलुप शासक जब तक है, तब तक सुख का सम्यक विभाजन असंभव है। यदि सच्चि शांति स्थापित करना है तो वे युधिष्ठिर को निम्नलिखित जीवनदृष्टि अपनाने की बात करते हैं -

" दलित मनुष्यमें मनुष्यता के भाव भरो
दर्प की दुरग्नि करो दूर बलवान से
हिम-शीतल भावनामें आग अनुभूति की दो,
छीन लो हलाहल उदग्र अभिमान से"[१]

यही कुरुक्षेत्र के भीष्म का निजी जीवनदर्शन है, कुरुक्षेत्र का संदेश है। इसलिए किसी वाद में वे परिसीमित नहीं वरन् मानवता का ही संदेश देते हैं।

दिनकर के भीष्म इस अर्थमें साम्यवादी नहीं है क्योंकि साम्यवादी ईश्वर, नियति आदि पर विश्वास नहीं रखते परंतु दिनकर के भीष्म ईश्वर, नियति आदि को मानते हैं।

वे पूर्णत: गांधीवादी भी नहीं कहे जा सकते, क्योंकि गांधी

---

१. रामधारीसिंह दिनकर-कुरुक्षेत्र-२३ वा संस्करण, १९७४, पृ. . .

दर्शन उनकी दृष्टिमें -

" क्षमा और दया के सुघर बेलबूटों से क्लीव धर्म को सजानेवाला धर्म था। उन्होंने धरती के उस अद्भुत मानवेंद्र की कल्पना की जिसके एक हाथमें अमृत कलश हो और धर्म की ध्वजा हो। परंतु जो हिमालय सा बलवान और कालसा क्रोधी भी हो, अचल के समान धीर होते हुए भी निर्झर-सा प्रगतिशील हो इसलिए कुरुक्षेत्र के दिनकर के भीष्म आत्मबल और देहबल का सामंजस्य करता है।"[१]

समन्वयवादी भीष्म -

दिनकर लिखित कुरुक्षेत्र को हमने विचार प्रधान, चिंतन प्रधान काव्य माना है। "कुरुक्षेत्र" के तीनों पात्र - भीष्म, युधिष्ठिर तथा स्वयं कवि इन तीनों का लक्ष्य है - मानवतावाद। मानवतावाद स्थापित करने के लिए जीवन के अनेक विरोधी तत्वों को प्रतिपादन करके उनमें संतुलन लाने का प्रयास किया गया है। इसी मूल प्रतिपाद्य का उद्घोष ये तीनों करते दिखाई देते हैं। विचारप्रधान कविता का औचित्य स्पष्ट करते हुए "कुरुक्षेत्र" के समीक्षक कहते हैं -

"कुरुक्षेत्र" की द्वंदग्रस्त जीवनदृष्टि के प्रश्नपर निश्चिंत और स्पष्ट रूप से यह कहा जा सकता है कि यहाँ आकर दिनकर का द्वंद सदैव के लिए समाप्त हो गया है। अभी तक जीवन के विभिन्न प्रश्नों और समस्याओं के प्रति जो विरोधी दृष्टिकोण उनके सामने चले आ रहे थे, कुरुक्षेत्रमें उनके सत्यासत्य का निर्णय हो गया है। मरण-जीवन, नाश और निर्माणमें सत्य कौन असत्य कौन ? प्रवृत्ति और निवृत्तिमें कौन

---

१. डॉ. सावित्री सिन्हा-युगचारण दिनकर-प्रथम संस्करण, १९६९, [illegible], पृ. ९६.

धर्म है, कौन अधर्म है, संसार नित्य है अथवा अनित्य, सुंदरता सत्य है अथवा उसके भीतर छिपी हुई कुरूपता, कलि का पुराना सत्य है अथवा विकास ? ये प्रश्न दिनकर के मनमें दीर्घ काल से चले आ रहे थे — जीवन की विविध विषमताओं और विरोधी परिस्थितियों से उत्पन्न अवसाद और उद्वलन समस्याओं और प्रश्नों का समाधान दिनकर ने "कुरुक्षेत्र" में पाश्चात्य और भारतीय दर्शन के सार तत्वों को ग्रहण करके किया है।"[१]

इन विरोधी तत्वोंमें सामंजस्य स्थापित करते समय भीष्म का जीवनदर्शन व्यक्त हुआ है। "कुरुक्षेत्र"में - कुरुभूमि में अर्जुन कौरवों के साथ युध्द करने के लिए जब सिध्द हो गया, तो भीष्म, द्रोणादि गुरुतुल्य महान व्यक्तियों को, सगे संबंधियों को देखकर कर्तव्य विमुख हो गया था। उस समय भगवान श्रीकृष्णने उन्हें क्षत्रिय धर्म पालनार्थ युध्द करने का संदेश दिया और युध्द की ओर प्रेरित किया। एक ओर इनका वध करने का संभ्रम तो दूसरी ओर क्षत्रिय धर्म का पालन के द्वंदमें वह फँस गया था। इस द्वंद की अवस्थामें अर्जुन को गीतोपदेश ने क्षात्रधर्म की ओर प्रवृत्त किया।

क्या यह द्वंद अर्जुन तक ही सीमित था ? युधिष्ठिर युध्द के पश्चात, कर्तव्या कर्तव्य का निर्णय करने में असमर्थ रहे। "जीये या मरे" की भावना निर्माण हुअी। उस श्रीकृष्ण के समान जीवन के संघर्ष व्यामोह को दूर करने के लिए पितामह भीष्म ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। महाभारत के शांतिपर्व के भीष्म इन्हीं धर्माधर्म, पाप-पुण्य, कर्तव्याकर्तव्य का प्रतिनिधित्व करते है, उसी प्रकार -

---

१. डॉ. सावित्री सिन्हा-युगचारण दिनकर, प्रथम संस्करण, १९६३, १२२-१२३.

कुरुक्षेत्र के भीष्म न्याय बुरानेवाले आततायियों को प्राणदंड देने की बात करते हैं। भीष्म युधिष्ठिर से कहते हैं -

बुराता न्याय जो, रण को बुलाता भी वही है
युधिष्ठिर। स्वत्व की अन्वेषणा पातक नहीं है
नरक उनके लिए जो पाप को स्वीकारते हैं
न उनके हेतु, जो रण में उसे ललकारते हैं।"[1]

महाभारत के भीष्म ने अन्याय के प्रतिरोध के लिए युध्द में गुरुजनों की हत्या तक का कर्म धर्म बतलाया गया है, इस धर्म का आचरण उन्होंने स्वयं किया था। धर्म की, रक्षा के लिए वे परशुराम से ललकार ने पर युध्द उनके साथ करते हैं। कुरुक्षेत्र के भीष्म प्रतिपक्षी अन्यायी है तो इससे भी बढकर वे धर्म उसी को मानते हैं -

" सबसे बडा धर्म है नर का
सदा प्रज्वलित रहना,
दाहक शक्ति समेट स्पर्श भी
नहीं किसी का सहना "[2]

इसी प्रकार स्नेह और धर्मका, शौर्य और करुणा में उन्होंने सामंजस्य स्थापित किया है।

भीष्म के अंतस्तलमें स्नेह और धर्म का द्वंद्व चल रहा था, उन्हें दोनों प्यारे थे परंतु -

---

१. रामधारीसिंह दिनकर-कुरुक्षेत्र, २३वा संस्करण, पृ. ३७, चतुर्थ सर्ग, १९७५.
२. रामधारीसिंह दिनकर-कुरुक्षेत्र, २३वा संस्करण, पृ. ४९, चतुर्थ सर्ग, १९७४।

धर्म स्नेह दोनों प्यारे थे, बड़ा कठिन निर्णय था,
अतः एक को देह; दूसरे को दे दिया हृदय था।
किंतु फटी जब घटा, ज्योति जीवन की पड़ी दिखाई,
सहसा सैकत बीच स्नेह की धार उमड़कर छाई।
धर्म पराजित हुआ, स्नेह का डंका बजा विजय का
मिली देह भी उसे, दान था जिस को मिला हृदय था।"[1]

मनसे भीष्म पांडव पक्षमें थे लेकिन, तनसे कौरव के सलाहकार। कुरुक्षेत्रमें मन जीता और धर्म पराजित हुआ।

इसी प्रकार पाप-पुण्यमें समन्वय स्थापित करते हुए पाप पर पुण्य की विजय दिखलाई है जैसे -

पुण्य-पाप दोनों वृत्तोंपर यह आशा खिलती है
कुरुक्षेत्र के चिता भस्म के भीतर भी मिलती है
जिसने पाया इसे, वही है सात्त्विक धर्मप्रणेता
सत्सेवक मानव समाज का सखा, अग्रणी नेता"[2]

और अंतमें यही कहते हैं कि -

जब तक है अवशिष्ट पुण्यबल की नरमें अभिलाषा
तब तक है अक्षुण्ण मनुजमें मानवता की आशा"[3]

कुरुक्षेत्र का महत्वपूर्ण संदेश है निवृत्ति पर प्रवृत्ति का विजय दिखाना। दिनकर के भीष्म कहते हैं -

---

१. रामधारीसिंह दिनकर-कुरुक्षेत्र, २३ वा संस्करण, पृ. ५२, ५३, चतुर्थ सर्ग, १९५०।
२. रामधारीसिंह दिनकर-कुरुक्षेत्र, २३ वा संस्करण, पृ. ८७, सप्तम सर्ग, १९७४।
३. रामधारीसिंह दिनकर-कुरुक्षेत्र, २३ वा संस्करण, पृ. ८७, सप्तम सर्ग, १९७४।

" धर्मराज संन्यास खोजना
कायरता है मन की,
है सच्चा मनुजत्व ग्रंथियाँ
सुलझाना जीवन की "[1]

संन्यास खोजना विरागी का मार्ग है, कर्मठ मनुष्य का नहीं। निवृत्ति वैयक्तिक मार्ग का है। जिस पर सारी प्रजा आश्रित है, वह राजा संन्यास लेकर वनमें भागना चाहता है, तो प्रजा क्या आदर्श लेगी? इसलिए वे कहते है

" निज को ही देखो न युधिष्ठिर
देखो निखिल भुवन को
स्वर्ग शांति सुख ही ईहा में
निरत, व्यग्र जन-जन को "[2]

कवि दिनकर भीष्म के माध्यम से जीवन की सार्थकता बताते हैं -

" कर्मभूमि है निखिल महीतल
जब तक नर की काया,
तब तक है जीवन के अणु-अणु
में कर्तव्य समाया "[3]

निवृत्ति के मार्ग का खंडन करते हुए वे कहते हैं - निवृत्ति मनुष्य को अकर्मण्य और क्रियाहीन बनाती है। सत्य से दूर भगाती है इसलिए वह कुत्सित कर्म है। कर्मसे भागकर व्यक्ति संघर्षों से मोडता हुआ - बिना कष्ट से ही सुधाफल पाना चाहता है। ऐसे

---

१. रामधारीसिंह दिनकर-कुरुक्षेत्र-२३ वा संस्करण, सप्तम सर्ग, १०४।
२. रामधारीसिंह दिनकर-कुरुक्षेत्र-२३ वा संस्करण, सप्तम सर्ग, १०५।
३. रामधारीसिंह दिनकर-कुरुक्षेत्र-२३ वा संस्करण, सप्तम सर्ग, १११।

लोगों का जीवन रसविहीन बताते हैं।

प्रवृत्ति मार्ग ही मानव जीवन को सुखी बनाने का मार्ग है। जिस प्रकार तप, त्याग, वैयक्तिक मोक्ष का मार्ग है उसी प्रकार मनुजत्व की ग्रंथियाँ सुलझाकर, कोटि कोटि संतानों को सुखी करना, समष्टि हित का मार्ग है। वैयक्तिक सुख से ऊपर उठकर समष्टि-हित की बात दिनकर के भीष्म बार बार करते हैं। वैयक्तिक साधना एवं सन्यास में जीवन की पूर्णता नहीं है। इसलिए निवृत्ति का मार्ग त्याग कर कर्मठ संन्यासी बनकर मही का भार संभलने की ओर प्रेरित कर रहे हैं।

" ऊपर सब कुछ शून्य शून्य है, कुछ भी नहीं गगनमें
धर्मराज। जो कुछ है, वह है मिट्टीमें जीवनमें "[1]

पृथ्वी का पुत्र होकर रहने की बात वे करते हैं। जीवन चाहे जैसा भी हो उसे यथार्थ रूपमें स्वीकार करने की बात करते हैं। जीवन षट्विकारों से भरा है, इन विकारोंपर विजय पाकर एक नवीन समाज रचना की प्रतिस्थापना के संकल्प की ओर ले जाते हैं। ऊपर आकाशमें देखना जीवन की सार्थकता नहीं बल्कि मिट्टी पर रहकर कर्म करना सच्चा जीवन धर्म है। आकाश की कोरी कल्पना, कोरे चिंतन को वे निरर्थक बताते हुए कहते हैं -

" कर्म लोकसे दूर पलायन
कुंज बसा कर अपना
निरी कल्पना में देखा
करती अलभ्य का सपना "[2]

---

२. रामधारीसिंह दिनकर-कुरुक्षेत्र-२३वा संस्करण, सप्तम सर्ग, पृ. १०९।

और

" धर्मराज कर्मठ मनुष्य का
पथ संन्यास नहीं है
नर जिस पर चलता, वह
मिट्टी है आकाश नहीं "[1]

सच्चा कर्मयोगी धरतीपर रहकर अपना कर्म करता है। संसार का त्रिविध ताप को सहता हुआ, अधःकार को मिटाकर आलोक फैलाता है। कर्मक्षेत्र उसके लिए दिवा स्वप्न के समान नहीं है। जीवन के प्रति आस्था रखना सच्चे कर्मवादी का निजी रूप है। इन सच्चे कर्मयोगी के कारण तो आज पृथ्वी खडी है। बुध्द, महावीर राबुकृष्ण परमहंस, विवेकानंद, राजाराम मोहनराय, दयानंद सरस्वती, अरविंद घोष, रमण महर्षि, तिलक गांधी, रवींद्रनाथ, सावरकर जैसे असंख्य कर्मयोगी की परम्पराने अपने बहुमुखी प्रयत्न से आज राष्ट्र खडा हुआ दृश्य हमें दिखाई देता है। इन्हों ने भारतीय समाज और जीवन के सभी क्षेत्रोंमें - दर्शन, कला, साहित्य, शिल्प, इतिहास, आदिमें अपना अमूल्य योगदान दिया। इस परंपरा का हमें गर्व होना चाहिए। निवृत्ति का मार्ग, संसार का त्याग करने से मन की इच्छाएँ शान्त नहीं हो जाती। व्यक्ति के शत्रु बाहर संसारमें नहीं हैं -

" बाहर नहीं शत्रु, छिप जाये
जिसे छोड नर वन में
जाओ जहाँ, वही पाओगे
इसे उपस्थित वनमें "[2]

---

१. रामधारीसिंह दिनकर-कुरुक्षेत्र-२३ वा संस्करण, सप्तम सर्ग, पृ. १११।
२. रामधारीसिंह दिनकर-कुरुक्षेत्र-२३ वा संस्करण, सप्तम सर्ग, पृ. ११९।

जहाँ भी जाओ निवृत्ति से मन की व्यथा नहीं मिट सकती। जगत् छोड देने से संघर्ष जीवन का संघर्ष दूर नहीं होता। इसीलिए भीष्म संसारमें रहकर दीन व्यक्ति का सहारा बनने की बात करते हैं - दीन जनता सहायता के लिए दु:खी है, उन्हें चाहिए -

" इसे चाहिए अन्न, वसन, जल
इसे चाहिए आशा,
इसे चाहिए सुदृढ, भुज
इसे चाहिए भाषा। "[1]

अन्न, वस्त्र, जल देकर दु:खी तथा असहायों की आवश्यकता पूरी करके उनके साथ सहानुभूति, प्रेम, करुणा की भाषा से आशा बँधाने की बात करते हैं। उन्हें तुम्हारे मजबूत चरण तथा शक्तिशाली भुजाओं का सहारा चाहिए और स्नेहमयी भाषा वे सुनना चाहते हैं। अत: भीष्म युधिष्ठिर को वनमें न जाकर इन दीन-दलितों की सेवा करना ही मोक्ष का मार्ग बताते हैं। जलते हुए समग्र भुवन में इसी तपस्या के बलपर शीतल अमृत बरसाने की बात करते हैं। उन्हें उस ओर प्रेरित करते हैं -

" पोंछो अश्रु, उठो द्रुत जाओ
वनमें नहीं, भुवनमें
हाओ खडे असंख्य नरों की
आशा बन जीवन में "[2]

पितामह भीष्म द्वापर युग के समाप्ति के साथ नवीन युग की

---

१. रामधारीसिंह दिनकर-कुरुक्षेत्र-२३ वा संस्करण, सप्तम सर्ग, १९७४, पृ. १२१.
२. रामधारीसिंह दिनकर-कुरुक्षेत्र-२३ वा संस्करण, सप्तम सर्ग, १९७४, पृ. १२२।

बात कर रहे हैं इस युग की समाप्ति के साथ उपभोग के स्थूल साधनों का ही विनाश हुआ है मनुष्यता का नहीं, क्योंकि मानवता की विकास का संबंध उसके शरीर से न होकर मन से है। मनुष्य की आशा तो मनुष्य में ही होती है, उसे अन्यत्र - वनमें मत ढो जो। मानवता की आशा तो -

" आशा मनुजत्व की है विजेता के विलाप में
आशा है मनुष्य की तुम्हारे अश्रुकणमें "[1]

दिनकर लिखित "कुरुक्षेत्र" के भीष्म पर निस्संदेह गीता का प्रभाव है। कुरुक्षेत्र के भीष्म स्पष्ट रूपसे गीता का मार्ग अपनाने की बात करते हैं।

" बुला रहा निष्काम कर्म वह,
बुला रही है गीता,
बुला रही है तुम्हें आर्त्त हो
मही समर - संभीता "[2]

गीता के निष्काम कर्मयोग की विचारधारा प्रभाव परिलक्षित होता है। लोकमान्य तिलक के प्रतिपादित विचारों का कुरुक्षेत्र के रचयिता पर प्रभाव पडा है।

कुरुक्षेत्र के भीष्म भाग्यवाद, निवृत्ति, अकर्मण्यता की मार्ग की घोर भर्त्सना करके भाग्य के स्थान पर पुरुषार्थ को, निवृत्ति के स्थान पर प्रवृत्ति को, अकर्मण्यता के स्थान पर कर्मण्यता की स्थापना

---

१. रामधारीसिंह दिनकर-कुरुक्षेत्र, २३वा संस्करण, १९७४, पृ. ८८।
२. रामधारीसिंह दिनकर-कुरुक्षेत्र, २३ वा संस्करण, १९७४, पृ. १२२।

करते हैं। बार बार इनकी पुनरावृत्ति होती है। इस पुनरावृत्ति के कारण कवि क्या निश्चित कहना चाहता है, इसका उत्तर उसकी पुनरावृत्ति से ही ज्ञात होता है। क्योंकि रचयिता के मनमें जो बात सिध्द करनी है, उसे बार बार विभिन्न उदाहरणों द्वारा वह स्पष्ट करता है। बार बार इन शाब्दों की पुनरावृत्ति करके कुरुक्षेत्र के भीष्म एक निश्चित आदर्श जीवन-दर्शन की स्थापना करते हैं।

गीता कहने से जैसे कर्मवाद की ध्वनि निकलती है, और उसका प्रतिपाद्य कर्मवाद सिध्द हो जाता है। कर्मवाद को सिध्द करने के लिए बार बार पुनरुक्ति विविध विधानों द्वारा सिध्द की गई है। कुरुक्षेत्र में भी मनोबल, देहबल, शांति, युध्द, शोषण, अन्यायी, भाग्यवाद पलायन, संन्यास कर्मण्यता आदि शाब्दों की परिभाषामें उसका संदेश छिपा है, वही उसका उद्देश्य भी हो सकता है।

कर्मवाद की स्थापना करते समय निवृत्ति मार्ग कैसा अकर्मण्य और आत्मभीरु होता है, और सच्चा कर्मयोगी संसारमें रहकर भी जनकल्याण द्वारा आत्मसुख पाता है। कुरुक्षेत्रमें इन विचारों की प्रतिस्थापना का मूल स्वयं "गीता" है। गीता का कर्मवाद और कुरुक्षेत्र का कर्मवाद इनमें समानता दिखाई देती है जैसे -

" गीता का कर्मवाद "

नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्व प्रकृति जैगुणे "[१]

---

१. श्रीमद्भगवद्गीता रहस्य अथवा कर्मयोगशास्त्र, लेखक बाळ गंगाधर टिळक, प्रकाशक-ज. श्री. टिळक, ७ संस्करण, अध्यायश, श्लोक ५ पृ.

" अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि "[१]

अर्थात् युध्द को पुण्य कर्म कहकर उससे विमुख होने को पाप बताया गया है। इसी भावसे मिलते जुलते शब्द है - दिनकर के भीष्म के -

" पाप हो सकता नहीं वह युध्द है
जो खडा होता प्रतिशोधपर
छीनता हो स्वत्व कोई और तू
त्याग तप से काम ले, यह पाप है
पुण्य है विच्छिन कर देना उसे
बढ रहा तेरी तरफ जो हाथ हो"[२]

इसी प्रकार

" नियतं कुरु कर्म त्व कर्म ज्यायो हयकर्मणः।
शरीर यात्रापि च ते न प्रसिध्दे कर्मणः।।"[३]

कुरुक्षेत्र का कर्मवाद -

" कर्मभूमि है निखिल महीतल
जब तक नर की काया
जब तक है जीवन के अणु अणु
में कर्तव्य समाया "[४]

---

१. श्रीमद्भगवद्गीता रहस्य अथवा कर्मयोगशास्त्र, लेखक बाळ गंगाधर टिळक, अध्याय दूसरा, श्लोक३३, पृ. ६०३ प्रकाशक ज. श्री. टिळक।
२. रामधारीसिंह दिनकर - कुरुक्षेत्र-२३ वा संस्करण, १९७४, तृतीय सर्ग, पृ.
३. श्रीमद्भगवद्गीता रहस्य अथवा कर्मयोगशास्त्र, लेखक बाळ गंगाधर टिळक प्रकाशक ज. श्री. टिळक, अध्याय ३ श्लोक ८ पृ. ६२५.
४. रामधारीसिंह दिनकर : कुरुक्षेत्र : २४ वा संस्करण सप्तमसर्ग : पृ. २११

दिनकर के भीष्म "गीता" की कर्तव्यधर्म की बातें दोहरा रहे हैं। कर्तव्य धर्म को त्याग कर मनुष्य सुखी नहीं हो पाता। वह संसार से भाग कर चाहे कहीं भी चला जाए परंतु कर्म तो उसके साथ सदैव ही लगा रहता है। कर्मशील व्यक्ति को कभी संन्यास नहीं लेना चाहिए। जब तक मनुष्य शरीर धारण किए हुए हैं, तब तक वह धरती पर कर्म से मुक्त नहीं हो सकता। जब तक वह जीवित है, तब तक उसके जीवन का प्रत्येक क्षण कर्तव्य कर्म से लदा हो। अतः गीतामें कही गई बात, कोई व्यक्ति कर्म हीन नहीं रह सकता, कुरुक्षेत्रमें भी प्रतिबिंबित है। इसलिए संन्यासी बनने की अपेक्षा जीवनमें सदैव कार्य करना अधिक मोक्ष का, कल्याण का मार्ग है। "कुरुक्षेत्र" का समीक्षक इन बातों को ध्यानमें रखते हुए लिखता है -

" कवि की आध्यात्मिक निष्ठाओं का जहाँ तक प्रश्न है, वे भौतिकवादी जीवनमूल्यों से संपृक्त है। वह सांसारिक जीवन से परे किसी अलौकिक आध्यात्मिक जगत् की कल्पना और मोक्ष साधना को महत्वपूर्ण और श्रेयस्कर नहीं मानता है। किंतु, यहाँ स्मरणीय है कि यह जडवादी भौतिकतावादी जीवन पध्दति [मेटीरियालिष्टिक फिलॉसफी] का भी अंधानुकरण कर्ता नहीं है, जिसके अनुसार "खाओ पीओ और मौज करो " ही जीवन का सर्वस्व है। वह देह पर मन का भी आधिपत्य चाहता है। लोक कल्याण के लिए वैयक्तिक स्वार्थ परित्याग के और पुरुषार्थपूर्ण संयमित जीवन की महत्ता को भी उसने स्वीकारा है।"[1] धर्मराज युधिष्ठिर को संयम और त्यागमय जीवनयोग का उपदेश ही पितामह भीष्मने निम्नांकित शब्दोंमें दिया है।

---

१. देवीप्रसाद गुप्त-हिंदी महाकाव्य सिध्दांत और मूल्यांकन, प्रथम संस्करण, १९६८, पृ. ३५५।

" भोगो तुम इस भाँति मृत्ति को दाग न लगने पाये।
मिट्टीमें तुम नहीं, वही तुममें विलीन हो जाये।
और सिखाओ भोगवाद की यही रीति जन जन को
करे विलीन देह को मनमें, नहीं देहमें मन को
मन का होगा आधिपत्य जिस दिन मनुष्य के तनपर
होगा त्याग अधिष्ठित जिस दिन भोगलिप्त जीवन पर।"[१]

पितामह भीष्म को युधिष्ठिर को कर्मशील संन्यासी बनकर मिट्टी के गौरव की रक्षा करने की बात करते हैं। जन्मभूमि ही उसकी कर्मभूमि बताते हैं। अपने धर्मपूर्वक कर्म का पालन करते हुए पृथ्वी को अलंकित रखने का संदेश देते हैं। संसार के सामने त्यागमय भोग का आदर्श प्रस्तुत करने को कहते हैं। नश्वर स्थूल शरीर पर मन के आधिपत्य का महत्व बताते हैं। त्यागमय योग की भावना से संसार का उपभोग करने की बात का विश्वास प्रकट करते आनेवाले कल का भाग्योदय का सुंदर प्रातःकाल होगा जहाँ, षट्विकारों से दूर, प्रतिशोध वैर के चिन्ह से मानव को मुक्त करके तप, बलिदान और त्याग के संबल से संसार को परिमित करने की बात करते हैं। इस प्रकार युधिष्ठिर के मनमें वे धैर्य बँधा रहे हैं। अपने चरित्र के बलसे आदर्श जीवन मूल्यों की स्थापना से सारे संसार को अनुप्राणित करने की बात करते हैं। अपना जीवन पवित्र, उदात्त और उच्च बनाने का आग्रह कर रहे हैं -

" प्रेरित करो इतर प्राणों को
निजचरित्र के बल से

---

१. देवीप्रसाद गुप्त-हिंदी महाकाव्य सिध्दांत और मूल्यांकन, प्रथम संस्करण १९६८, पृ. १२४।

भरो पुण्य की किरण प्रजामें
अपने तप निर्मल से "[1]

दिनकर के भीष्म हिंसा, प्रतिशोध, घृणा, ध्वंस आदि मानव-सभ्यता को कलंकित करनेवाले विकारों से मुक्ति पाने के लिए युध्द को आपध्दर्म के रूपमें स्वीकार किया है। युध्दवादी विचारों को, हिंसा को कहीं अपना साध्य नहीं माना बल्कि उनकी विचारों की आधारभूमि है जिसपर सारा संसार खडा है - प्रेम, ममत्व, दया, क्षमा, करुणा, सहानुभूति। इन उदात्त गुणोंपर मानवता खडी है। इसलिए कुरुक्षेत्र के युध्द को वे - मानवता का अंत नहीं मानते।

महाभारत के भीष्म तथा कुरुक्षेत्र के भीष्म - समानता - असमानता.

महाभारत के भीष्म ने क्षात्रधर्म तथा राजधर्म का नवनीत देते समय कहा था कि धर्म, दान, अध्ययन और तप ब्राह्मणों का धर्म है उसी प्रकार क्षत्रियों का समरमें प्राणोत्सर्ग। जो क्षत्रिय पापी, लोभी गुरुजनों की भी युध्दमें हत्या करता है वह धर्मज्ञ है। जो व्यक्ति लोभ से सनातन धर्माधर्म की उपेक्षा करता है उसका वध करनेवाला क्षत्रिय धर्मात्मा है। पितामह राजधर्म बतलाते समय आगे कहा था कि राजा को सदा कर्तव्य के लिए सन्नध्द रहना चाहिए। राजा के गुणों को बतलाते हुए उन्होंने कहा था कि - राजा धर्म, अर्थ काम और मोक्षमें रत रहता है। राजा दुष्टों की आचरण पर दृष्टि रखे, कोष की न्याय से अभिवृध्दि करे। अनाथ और असहायकों का सहारा बने, गुरुजनों की उपासना करे। सज्जनों को धन दे आदि। क्षात्रधर्म के पालन

---

१. रामधारीसिंह दिनकर-कुरुक्षेत्र-२३ वा संस्करण, सप्तम सर्ग, पृ. १२५।

के लिए शौर्यधर्म से युक्त होना चाहिए। राजा को प्रजा का हित देखना चाहिए। राजा को अपनी आत्मा पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। वही राजा सुख को प्राप्त करता है जो इन सब कार्यों का संपादन कर सम्यक रूपसे प्रजा का पालन करता है।

दिनकर का भीष्म इसी आधारपर अपनी मौलिक उद्भावना करके स्वतंत्र व्यक्तित्व का परिचायक बनकर आया है।

महाभारत के शांतिपर्व में पितामह भीष्म के पास युधिष्ठिर अपना पश्चाताप व्यक्त करके भीख माँगने की या वनमें जाने की बात कहता है। कुरुक्षेत्र के युधिष्ठिर भी महाभारत की भांति ही आत्मग्लानि एवं लोभ से दबा अपना हृदय लेकर पितामह के पास उसका समाधान खोजने के लिए आता है। महर्षि व्यास, भगवान कृष्ण जैसे महान विभूतियों ने उनको समाधान की दिशा भीष्म की ओर ही दिखाते हैं।

"महाभारत के भीष्म" तथा "कुरुक्षेत्र के भीष्म" इन दो अध्यायों में स्वतंत्र रूपसे प्रस्तुत किया हुआ विवेचन, भीष्म के उपदेशमें साम्य है - उदा. देहबल का सामना मनोबल से नहीं किया जाता, हिंस्र पशु के सामने इन आत्मिक शक्ति निरर्थक है। क्षात्रधर्म के पालन के लिए शूरधर्म का विवेचन, अन्याय का बदला या प्रतिशोध के लिए किया गया युध्द पाप नहीं हो सकता, यहाँ तक कि गुरुजनों तक का वध भी क्षम्य है। इसी प्रकार कुरुक्षेत्रमें न्याय चुरानेवाला आततायी, स्वत्व को छीननेवाला, शोषण करनेवाला शासक के विरुध्द युध्द करना अनिवार्य बताया गया है।

महाभारतमें उच्च राजतंत्र को महिमा बताते हुए भीष्म राजा के

कर्तव्यों को महत्व देते हैं। साथ ही समाज रचना के अनुसार राजा को धर्मनिष्ठ होना चाहिए। समाज के जो भी नीति-नियम है, उनका अनुसरण करना राजा और प्रजा का दायित्व है। महाभारतमें पांडवों के अज्ञातवास की अवधि समाप्त होने का समय आता है तो उन्हें ढूंढ निकालने के लिए पितामह भीष्म दुर्योधन को कहते हैं - जहाँ धर्म, नीति, प्रजाजन सुखी संपन्न आदि आदर्श राज्य की बातें जहाँ दिखाई देते हैं वही पांडव मिलेंगे। [इन बातों का विवेचन तृतीय अध्यायमें हुआ है] यह कहने का तात्पर्य यही कि महाभारत कालमें सत्-असत् धर्म-अधर्म आदि विरोधी प्रवृत्तियों पर समाज खडा था। इसलिए सद्राजतंत्र सभी जगह स्थापन करने की आवश्यकता थी। किंतु दुर्योधन जैसे आततायी, शासक का अंत होना आवश्यक था।

महाभारतमें राजसंस्थाओं का निर्माण कैसे हुआ ? राजा की आवश्यकता क्यों महसूस होने लगी, आदि का प्रसंग जैसे को तैसा कुरुक्षेत्र में निरूपित है। इसका विवेचन तृतीय अध्यायमें हो चुका है फिर भी समानता बताते समय यह फिरसे निर्दिष्ट करना आवश्यक लगता है।

" राजा प्रजा नहीं था कोई
और नहीं शासन था
धर्म-नीति का जन-जन के
मन-मन पर अनुशासन था "[1]

किंतु

" पडा कभी दुष्काल, मरे नर,
जीवित का मन डोला,

---

१. रामधारीसिंह दिनकर - कुरुक्षेत्र-२३वा संस्करण, १९७५, पृ. ९७ सप्तम सर्ग.

उसके किसी निभृत कोने से
लोभ मनुज का बोला"[1]

कृतयुगीन समाज से लेकर आज भी वही परिस्थिति रही है। अभाव लोभ का कारण बन चुका है। लोभ से ही मोह, क्रोध आदि विकार निर्माण हुए।

धर्म अधर्म की बातों का विश्लेषण करते समय उनमें कोई निश्चित सीमारेखा नहीं खींची जा सकती। इस विषयपर महाभारत के भीष्म और कुरुक्षेत्र के भीष्म वही निर्णय देते हैं जैसे -

महाभारत के भीष्म कहते हैं -

" भवत्यधर्मो धर्मो हि धर्माधर्मावुभावपि
कारणाद देशकालस्य देशकाल ह: साधु"[2]

कुरुक्षेत्र के भीष्म भी यही कहते हैं -

" पुण्य करना पुण्य या दुष्पाप है
क्योंकि कोई कर्म है ऐसा नहीं
जो स्वयं ही पुण्य या पाप हो "[3]

और

है बहुत देखा-सुना मैं ने मगर

---

१. रामधारीसिंह दिनकर-कुरुक्षेत्र-२३वा संस्करण, १९७४, पृ. ९७, सप्तम सर्ग.
२. श्रीमन्महर्षि व्यासप्रणीत महाभारत, अध्याय ७८, श्लोक ३२, पृ. ४६२७, गीताप्रेस गोरखपुर.
३. रामधारीसिंह दिनकर-कुरुक्षेत्र-२३वा संस्करण, १९७४, पृ. १८, प्रथम सर्ग.

भेद खुल पाया न धर्माधर्म का,
आज तक ऐसा कि रेखा खींचकर
बाँट दू मैं पुण्य को औ पाप को"[1]

महाभारत के भीष्म कहते हैं कि, देशकाल की परिस्थिति के कारण कभी अधर्म धर्म हो जाता है और धर्म अधर्म रूपमें परिणत हो जाता है, क्योंकि वह वैसा ही देशकाल है।

कुरुक्षेत्र के भीष्म भी धर्माधर्म की बातों का निर्णय देते समय उनमें कोई निश्चित सीमारेखा नहीं खींच सकते।

महाभारत के भीष्म का जो जीवन-दर्शन प्रस्थापित हुआ है, उससे ही कुछ अलग होकर कुरुक्षेत्र के भीष्म का जीवन-दर्शन प्रतिबिंबित हुआ है। महाभारत के भीष्म एक आदर्श ब्रह्मचर्यी वीर, नीतिज्ञ, धर्मज्ञ, दृढनिश्चयी, असीम त्यागी, अनुभवी चिंतक होते हुए भी दिनकर ने आधुनिक भीष्म का पुनर्निर्माण क्यों किया। ऐसी कौनसी त्रुटियाँ महाभारत के भीष्म में रह गई थी जो दिनकर के भीष्म ने पूरी की ? शांतिपर्व में जो उनकी विद्वत्ता का एकमेव अद्वितीय व्यक्तित्व साकार हो उठा है क्या वह आदर्शप्रद नही ? दिशादर्शक नही ?

कुरुक्षेत्र के भीष्म युधिष्ठिर को पुन: कर्मभूमि के निकट पाकर कहा कि -

कुरुक्षेत्र की मिट्टी नर यात्रा का अंत नहीं। यहाँ आँसू बरसे हैं, शांति का पुष्प भी यही पर खिलेगा। हे धर्मराज -

---

१. रामधारीसिंह दिनकर-कुरुक्षेत्र-२३वा संस्करण, १९७४, पृ. १८, प्रथम सर्ग

द्वापर समाप्त हो रहा है धर्मराज, देखो
लहर समेटने लगा है एक पारावार
जग से विदा हो जा रहा है काल-खंड एक
साथ लिए अपनी समृध्दि की चिता का क्षार
संयुग की धूलि में समाधि युग की ही बनी
बह रही जीवन की आज भी अजस्त्र धार"[1]

द्वापर अपने समस्त वैभव के साथ समाप्त हो रहा है, परंतु मानव जीवन की धारा तो अजस्र रूपसे प्रवाहित हो रही है। इस रणसे मनुष्यता की आशा नष्ट हो गई है लेकिन तुम्हारे रूपमें फिरसे विजयी हो रही है, यही आशा का लक्षण है। यह मनुष्यता ही है कि, जो मनुष्य को उसके कुकर्मों के लिए कोसती है। राज्य, धन, तप, किरीट, जप, याग, योग से मनुष्यता महान है। यही मानव को समानता के पद पर आसीन कर देती है।

दिनकरने महाभारत के भीष्म के चरित्र को वैसे ही बनाए रखते आधुनिक भीष्म की कल्पना युग और काल के अनुसार की है। जैसे त्रेतायुग के राम, द्वापर युग के कृष्ण दोनों आदर्श के स्थान पर रहे हैं, लेकिन उन्होंने जो आदर्श प्रस्तुत किया है, समाज की विभिन्न परिस्थिति से प्रेरित होकर ही। इसलिए कबीर के राम ज्ञानमार्गी है तो तुलसी के समन्वयवादी। दोनों अपने अपने स्थान पर महान है, आदर्श है। वैसे ही रामायण और महाभारतमें चित्रित पात्रों को आधुनिक रूपमें प्रस्तुत करना

---

१. रामधारीसिंह दिनकर-कुरुक्षेत्र-२३ वा संस्करण, १९७४, सप्तम सर्ग, पृ. ८७।

यह युग की उपज ही कही जा सकती। समाजमें पुनर्जागरण का मंत्र फूँकने के लिए इतिहास पुरुषों की प्रतिस्थापना के उद्देश्य संतकवि प्रेरित हुए। कबीर ने जहाँ बाह्याडंबर अंधविश्वास, आदि सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार किया वहाँ तुलसी ने भारतीय जनता के आहत हृदयमें राम को बिठाकर पतनोन्मुख समाज को नयी दिशा दी।

राष्ट्र कवि दिनकर के काव्यमें अतीत की धरातल पर वर्तमान साकार हो उठा है। साहित्यकार का यह दायित्व है कि युग की पुकार को सुनकर वह उसकी धडकन बने। इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि युगधर्म के अनुसार साहित्य का निर्माण होना चाहिए। युगीन संदर्भों से अनुप्राणित होकर अन्याय, शोषण विषमता, इनके विरुद्ध आवाज उठानेवाला भीष्म युगधर्म की पुकार करता है। क्रांति द्वारा इनकी जडे उखाडकर फेंकने की बात करता है। समय के बदलते आयामों के साथ दिनकर का दायित्व भी परिवर्तित रूपमें सम्मुख आता है। तप, त्याग, दया, करुणा, ममत्व आदि मानव को उच्च पथ पर आसीन कर सकनेमें समर्थ हो सकते हैं लेकिन मूल्य वही है जहाँ उसे पहचाननेवाले वाले हैं। जहाँ सभ्यता और संस्कृति अभी जीवित है, वहाँ इन मूल्यों से उपलब्धि है। मनुष्य प्रेम, ममत्व, जैसे शब्दों का प्रयोग जहाँ करता है, वहाँ उनका औचित्य मात्र शून्य दिखाई देता है। इन बातों को देखकर ऐसी धारणा हो जाती है कि, जहाँ देखो वहाँ अत्याचार, भ्रष्टाचार, अविश्वास बेईमानी इन्हीं का जोर है। मानवता के नाम पर कोई भी अकार्य मनुष्य करता आ रहा है ऐसा लगता है काल के प्रवाहमें ये सभी मूल्य नष्ट होते जायेंगे, जिसकी कोई उपयोगिता देखी नहीं जाती, वह बिना उपयोगसे ही घिसते जायेंगे।

यही कारण हो सकता है कि दिनकर का भीष्म वर्गहीन समाज, शोषण से युक्त समाज, न्याय-समता पर आधृत समाज की कामना करता है, जो महाभारत से भिन्न है।

दिनकर के भीष्म के सामने आज अनेक प्रकार की समस्याएँ खडी हैं। तप, त्याग, सहिष्णुता जैसे गुणों का प्रतिनिधित्व करनेवाले युधिष्ठिर सभी जनता को जाग्रत करना है। आज इन गुणों को माननेवाला नैष्ठिक समाज कहाँ है ? इसलिए अनेक समस्या गंभीर रूप धारण कर रही इन सभी समस्याओं से जुझनेवाला भीष्म उन्हें निर्माण करना था, जो इन समस्याओं की जडे उखाडकर फेंक दे। इसलिए वे कुरुक्षेत्र की भूमिकामें लिखते हैं " युध्द सारी समस्याओं की जड है "[१] दिनकर को यह विश्वास है कि युध्द विघातक और सृजनात्मक दोनों कार्य कर सकता है। कोई भी युध्द नहीं चाहता फिर भी परिस्थितियाँ युध्द के लिए बाध्य बनाती है। संसारमें दोनों वृत्तियों का राज्य है - धर्म-अधर्म। कल भी था, आज भी है, शायद कल भी रहेगा। इसी अधर्म के विनाश के लिए अत्याचार, स्वार्थ लोलुपता जैसे समाज विघातक बातों के विरोधमें मनुष्य द्वंद करता आ रहा है। महाभारत का युध्द जैसे अनेक कारणों के संयोग से हुआ, वैसे ही अनेक राजनीतिक, उलझने, वैमनस्य, परस्पर कलह, स्वार्थवृत्ति, धनलोभ आदिमें युध्द के बीज देखे जा सकते हैं।

अंतमें दिनकर का भीष्म मनुष्यता के मंगलमय भविष्य का चित्र खींचता है। मनुष्यमें मनुष्यता का विकास चाहता है। उसका विश्वास है मनुष्य का विकास उसी समय संभव है जहाँ इन क्षुद्र स्वार्थलोलुप वृत्ति को वह छोड दे। अपनी प्रतिभा, बुध्दि ज्ञान, क्षमता, साहस द्वारा मनुष्य

---

१. रामधारीसिंह दिनकर-कुरुक्षेत्र-[भूमिका] २३ वा संस्करण, पृ. ३, ।

कुछ भी प्राप्त कर सकता है। युधिष्ठिर को संन्यास का पथ छोड़कर, वैयक्तिक स्वार्थ से उपर उठकर पीड़ित प्रजा की रक्षा के लिए प्रवृत्ति का मार्ग प्रशस्त करने की बात करता है। इसीसे विश्व शांति स्थापित होने का विश्वास भी प्रकट करता है।

अंतमें दिनकर का यही संदेश है कि युध्द के भयंकर विनाश के बाद भी इस मही पर आशा के दीप अक्षय खिलेंगे, इसमें संदेह नहीं।

" कुरुक्षेत्र की धूलि नहीं इति पंथ की
मानव ऊपर और चलेगा
मनु का पुत्र निराश नहीं
नवधर्म प्रदीप अक्षय जलेगा।"[१]

अत: विश्वमें नवधर्म शांति, साम्य और प्रेम की ज्योति से मानवता के दीप को प्रदीप्त करने की बात करता है।

" आशा के प्रदीप जलायें चलो धर्मराज,
एक दिन होगी मुक्त भूमि रण-भीति से।
भावना मनुष्य की न राग में रहेगी लिप्त,
सेवित रहेगा नहीं जीवन अनीति से।
हार से मनुष्य की न महिमा घटेगी और
तेज न बढ़ेगा किसी मानव का जीत से।
स्नेह-बलिदान होंगे माप नरता के एक,
धरती मनुष्य की बनेगी स्वर्ग प्रीति से।"[२]

---

१. रामधारीसिंह दिनकर-कुरुक्षेत्र-२३वा संस्करण, १९७४, पृ. ८७, सप्तम सर्ग।
२. रामधारीसिंह दिनकर-कुरुक्षेत्र-२३ वा संस्करण, १९७४, पृ. १२६, सप्तम सर्ग।

महाभारत के भीष्म तथा कुरुक्षेत्र भीष्म अंतमें मानवतावादी धरातल पर ही आकर खडे होते हैं। जहाँ कुरुक्षेत्र के भीष्म सत्यधर्म से मानव जीवन सार्थक करने की बात करते हैं, वहाँ कुरुक्षेत्र के भीष्म भी स्नेह बलिदान से धरती को स्वर्ग बनाने की बात करते हैं। यही सत्य, शिव और सुंदर भी है।

-x-x-x-x-x-